

महाराणा प्रताप



डॉ. भवान सिंह राणा



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING



COLLECTION OF VARIOUS
-> **HINDUISM SCRIPTURES**
-> **HINDU COMICS**
-> **AYURVEDA**
-> **MAGZINES**

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with

By
Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**

 **KAPWING**

महाराणा प्रताप

डॉ भवानसिंह राणा



डायमंड बुक्स

eISBN: 978-93-5278-590-2

© प्रकाशकाधीन

प्रकाशक: डायमंड पॉकेट बुक्स (प्रा.) लि.

X-30 ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-II

नई दिल्ली-110020

फोन: 011-40712100, 41611861

फैक्स: 011-41611866

ई-मेल: ebooks@dpb.in

वेबसाइट: www.diamondbook.in

संस्करण: 2017

महाराणा प्रताप

लेखक: डॉ भवानसिंह राणा

महाराणा प्रताप का नाम लेते ही मुगल साम्राज्य की सत्ता को चुनौती देने वाले वीरता के ओज से परिपूर्ण एक अप्रतिम वीर योद्धा का बिम्ब हमारे मस्तिष्क में अनायास ही मूर्त रूप धारण कर लेता है । स्वतन्त्रता हेतु विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने जो संघर्ष किया उसकी सामान्य लोगों से कल्पना भी नहीं की जा सकती । मेवाड़ नरेश होते हुए भी उनके जीवन का अधिकांश भाग वनों और पर्वतों में इधर-उधर भटकते हुए व्यतीत हुआ । अपनी अदम्य इच्छा शक्ति और अपूर्व रण कौशल से अंततः वह मेवाड़ को स्वाधीन कराने में समर्थ हुए।

भौतिक सुख-लाभों की उपेक्षा करते हुए मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उनका अनवरत संघर्ष इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है । प्रस्तुत है महाराणा प्रताप का सरल एवं सुबोध भाषा में संक्षिप्त जीवन चरित ।

दो शब्द

देशप्रेम, त्याग, बलिदान, संघर्ष आदि गुणों के प्रतीक महाराणा प्रताप भारतवासियों के लिए श्रद्धा तथा अभिमान का विषय बन गये हैं। उनका नाम लेते ही मुगल साम्राज्य की सत्ता को चुनौती देने वाले वीरता के ओज से परिपूर्ण एक अप्रतिम योद्धा का बिम्ब हमारे मस्तिष्क में अनायास ही मूर्त रूप धारण कर लेता है। स्वतंत्रता हेतु विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने जो संघर्ष किया, उसकी सामान्य लोगों से कल्पना भी नहीं की जा सकती। मेवाड़ नरेश होते हुए भी उनके जीवन का अधिकांश भाग वनों और पर्वतों में इधर से उधर भटकते हुए व्यतीत हुआ। अपनी अदम्य इच्छाशक्ति और अपूर्व रण-कौशल से अंततः वह मेवाड़ को स्वाधीन कराने में समर्थ हुए।

भौतिक सुख-लाभों की उपेक्षा करते हुए मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उनका अनवरत संघर्ष इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है। उनके समान व्यक्तित्व देश एवं जाति के लिए युग-युग तक प्रेरणा स्वरूप होते हैं। आज भारत में राष्ट्रीय चेतना हास की ओर अग्रसर होती जैसी प्रतीत होती है। ऐसे समय में महाराणा प्रताप का जीवन चरित आदर्श स्वरूप हैं। यही कारण है कि वह मातृभूमि की स्वाधीनता के उपासकों के लिए प्रायः स्मरणीय और वन्दनीय बन गये हैं।

इस पुस्तक की सामग्री संकलन के लिए डॉ. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास (वीरविनो), डॉ. गोपीनाथ शर्मा, डॉ. आशीर्वादीलाल, महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन, कर्नल टॉड, डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी, श्री राजेन्द्र बीड़ा, श्री राजेन्द्र शंकर भट्ट आदि इतिहासविद् विद्वानों की पुस्तकों से सहायता ली गई है। इन सभी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

- डॉ. भवानसिंह राणा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : मेवाड़ □ और उसका राजवंश

मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति
मेवाड़ का राजवंश
मेवाड़ में अव्यवस्था का काल
वनवीर का शासन
मेवाड़ की राजवंशावली

द्वितीय अध्याय : प्रारम्भिक जीवन

प्रताप का जन्म
प्रताप के भाई-बहिन
प्रताप का बाल्यकाल
नई राजधानी उदयपुर का निर्माण
राज्य विस्तार और मैत्री सम्बन्ध
उदयसिंह का मुगलों से संघर्ष
अकबर द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण
उदयसिंह द्वारा जगमाल को युवराज पद
उदयसिंह की मृत्यु

तृतीय अध्याय : महाराणा प्रताप का राज्याभिषेक

जगमाल की जगह प्रताप महाराणा
जगमाल मुगलों की शरण में
महाराणा प्रताप की प्रारम्भिक कठिनाइयां
राजधानी परिवर्तन तथा नये कार्यक्रम
मुगलों से सन्धि या विग्रह का विकल्प
अकबर द्वारा मित्रता के प्रयास
जलाल खां कोरची द्वारा सन्धि प्रस्ताव
मानसिंह द्वारा सन्धि प्रस्ताव
विभिन्न मत
भगवानदास द्वारा सन्धि प्रस्ताव
टोडरमल द्वारा सन्धि प्रस्ताव

चतुर्थ अध्याय : हल्दीघाटी का युद्ध

अकबर का मेवाड़ अभियान
मानसिंह को सेनापति बनाने का औचित्य
मानसिंह का मेवाड़ प्रस्थान
महाराणा की तैयारियां
मुगल सेना से सामना
हल्दीघाटी में महाराणा की सेना की व्यूह रचना
मुगल सेना की व्यूह रचना
प्रताप शक्तिसिंह मिलन
युद्ध का परिणाम
हताहतों की संख्या
महाराणा की हार के कारण

पंचम अध्याय: घात प्रतिघात

मानसिंह को गोगुंदा पर अधिकार
गोगुंदा में मुगल सेना की स्थिति
बदायूनी का अकबर के पास जाना
प्रताप द्वारा गोगुंदा वापस लेना
अकबर का मेवाड़ प्रस्थान
अकबर के नये गठबंधन
प्रताप द्वारा उदयपुर-गोगुंदा पर पुनः अधिकार
अकबर द्वारा शाहबाज खां को मेवाड़ भेजा जाना
पहाड़ों की शरण में
कुम्भलगढ़ पर मुगल अधिकार
उदयपुर पर मुगलों का अधिकार
भामाशाह द्वारा आर्थिक सहायता
महाराणा द्वारा दिवेर पर अधिकार
शाहबाज खां दूसरी बार मेवाड़ में
प्रताप पुनः सक्रिय
शाहबाज खां तीसरी बार मेवाड़ में
खानखाना का मेवाड़ अभियान
जगन्नाथ कछवाय मेवाड़ अभियान पर
अमरसिंह की निराशा
महाराणा का अकबर को पत्र-एक विवादास्पद तथ्य
एक अन्य विवादास्पद प्रसंग

षष्ठ अध्याय: फलागम और अवसान

राठौरोँ पर प्रभुसत्ता
अधिकांश मेवाड़ पर अधिकार
गोगूँदा में सभा
नई राजधानी चावण्ड
उजड़े स्थानने का पुनर्निर्माण
महाप्रयाण
महाराणा की मृत्यु पर अकबर की प्रतिक्रिया
महाराणा के पुत्र

सप्तम अध्याय : मूल्यांकन

स्वतन्त्रता के परम उपासक
कुशल संगठनकर्ता
प्रताप की युद्धनीति
आदर्श शासक
विभिन्न विद्वानों की दृष्टि में प्रताप

अष्टम अध्याय : महाराणा प्रताप के उत्तराधिकारी

महाराणा अमरसिंह प्रथम
महाराणा कर्णसिंह
महाराणा जगतसिंह प्रथम
महाराणा राजसिंह प्रथम
महाराणा जयसिंह
महाराणा अमरसिंह द्वितीय
महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय
महाराणा जगतसिंह द्वितीय
महाराणा प्रतापसिंह द्वितीय
महाराणा राजसिंह द्वितीय
महाराणा अरिसिंह तृतीय
महाराणा हमीरसिंह द्वितीय
महाराणा भीमसिंह द्वितीय
महाराणा जवानसिंह
महाराणा सरदारसिंह
महाराणा स्वरूपसिंह
महाराणा शम्भुसिंह
महाराणा सज्जनसिंह

परिशिष्ट-1 : तिथिक्रम

परिशिष्ट-2 : श्रीमद्भागवत में मेवाड□ का राजवंश

परिशिष्ट-3 : जोतदानों में उदयपुर राजवंश की वंशावली

प्रथम अध्याय

मेवाड़ □ और उसका राजवंश

भारतीय इतिहास में राजपूताने का गौरवपूर्ण स्थान रहा है । यहां के रणबाकुरों ने देश, जाति तथा स्वाधीनता की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने में कभी संकोच नहीं किया । उनके इस त्याग पर सम्पूर्ण भारत को गर्व रहा है, वीर रस रूचिरा इस भूमि में राजपूतों के छोटे-बड़े अनेक राज्य रहे, जिन्होंने भारतीय इतिहास के अनेक उज्ज्वल अध्यायों की रचना की । इन्हीं राज्यों में मेवाड़ का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है, जिसमें इतिहास के गौरव वप्पारल, खुमाण प्रथम महाराणा हम्मीर, महाराणा कुम्भा, महाराणा सांगा तथा प्रस्तुत पुस्तक के चरितनायक वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप जैसे इतिहास निर्माता महान् वीरों ने जन्म लिया ।

मेवाड़ □ की भौगोलिक स्थिति

मेवाड़ का इतिहास इस राज्य के प्रारम्भ से ही अत्यन्त गौरवशाली रहा है । मध्यकाल में यहां के शासकों तथा जनता ने अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए मुसलमान सुल्तानों के विरुद्ध जो संघर्ष किये, वह इतिहास में अद्वितीय हैं । इस राज्य के इतिहास में वीरता, त्याग, बलिदान तथा स्वतन्त्रता प्रेम का एक अद्भुत समन्वय दिखायी देता है । इसकी एक विशिष्टता का एक महत्त्वपूर्ण कारण इसकी भौगोलिक स्थिति शेष राजस्थान से पर्याप्त भिन्न है । इसकी स्थिति 23.49 से 25.58 उत्तरी अक्षांश तथा 73.1 से 75.49 दक्षिणी देशान्तर तक है । वर्तमान काल में यह राज्य भीलवाड़ा, चित्तौड़ और उदयपुर में विभक्त है । इसके पूर्व में नीमच, टोंक, कोटा तथा बूंदी, दक्षिण में डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़, दक्षिण-पश्चिम में ईश्वर, पश्चिम में जोधपुर और सिरोही, उत्तर में अजमेर, मेरवाड़ा और भीलवाड़ा का कुछ भाग तथा उत्तर-पूर्व में जयपुर स्थित है ।

मेवाड़ को चार प्राकृतिक भागों में विभाजित किया जाता है-

- (1) पश्चिमी पर्वतमाला ।
- (2) पूर्वी पर्वतमाला ।
- (3) दक्षिणी पर्वतमाला ।
- (4) मध्यवर्ती मैदानी भाग ।

पश्चिमी पर्वतमाला उत्तर में दिवेर से आरम्भ होकर दक्षिण में देवल तक फैली है । इसी पर्वतमाला को अरावली या अड़ावल की पहाड़ियां कहा जाता हैं । इसकी सबसे ऊंची चोटी

कुम्भलगढ़ के समीप जरगा नामक स्थान पर है, जिसकी ऊंचाई समुद्र सतह से 4315 फुट है। इस पर्वतमाला में अनेक तंग दर्रे हैं, जिन्हें स्थानीय भाषा में नाल कहा जाता है। इनमें देसूरी, हाथीगुडो, जीलवाड़ा आदि की नालें प्रमुख हैं। बाहर से शत्रुओं का प्रवेश रोकने के लिए इन नालों पर सुरक्षा का प्रबन्ध रहता था। हाथीगुडा में स्वतन्त्रता की रक्षा में प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरों के स्मारक बने हैं। इस पर्वतमाला से अनेक छोटी-बड़ी नदियां निकलती हैं, जो मेवाड़ के मैदानी भाग में कृषि के लिए वरदानस्वरूप हैं। इस भाग में भी बीच में भीलों तथा अन्य वनवासी लोगों की बस्तियां हैं और स्थान-स्थान पर खेती योग्य भूमि भी है। इस पर्वतमाला का दक्षिणी भाग गोगूदा तक फैला है, जिसे भोमट कहा जाता है। यह पर्वतमाला मेवाड़ के लिए इस दिशा से प्राकृतिक सुरक्षा का कार्य करती थी। यहीं से उदयसिंह तथा महाराणा प्रताप ने मुगल सम्राट अकबर के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध का संचालन किया था।

अरावली की ही एक छोटी पर्वतमाला उत्तर-पूर्व में देवली से भीलवाड़ा तक चली गयी है। एक दूसरी श्रृंखला देवली से माडलगढ़, बिजोलिया, मेनाल होती हुई चित्तौड़गढ़ तक चली गई है। यही छोटी पर्वतमालाएं पूर्वी पठार कही जाती हैं। इस भाग की अधिकतम ऊंचाई 2000 फुट है। इस भाग को अपरमल भी कहा जाता है। यहां अनेक सनातन तथा जैन मतों के तीर्थ स्थान भी हैं। प्राचीनकाल में यह एक समृद्ध व्यापारिक केन्द्र था।

दक्षिण के पर्वतमाला प्रदेश में छापन तथा मगरे जिले के जंगल तथा पहाड़ियां सम्मिलित हैं। यह भाग गुजरात की सीमा से मिला हुआ है। इसमें पहाड़ियों की घाटियों के बीच छोटे-छोटे गांव हैं। गुजरात की ओर से इसी प्रदेश से मेवाड़ पर आक्रमण हुए थे। यहां से वन्य सम्पदा तथा खनिज पदार्थों की प्राप्ति भी होती है। यहां महुआ, सागवान, इमली, पीपल, सीसम, खजूर, जामुन आदि के वृक्षों की बहुलता है। हल्दी घाटी युद्ध के बाद महाराणा प्रताप ने इसी प्रदेश में स्थित चावण्ड को अपनी राजधानी बनाया था। कहा जाता है कि पहले जावर से तीन लाख रुपये वार्षिक की चांदी निकलती थी और यहां कई तांबे की खानें भी थीं। आज भी यहां निर्माण कार्य तथा चक्की बनाने का पत्थर अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है।

चित्तौड़ राजसमन्द, भीलवाड़ा, उदयपुर, नाथद्वारा और मगरा जिले के बीच का भू-भाग मध्यवर्ती मैदानी भाग कहा जाता है। इस भाग में कई महत्वपूर्ण नदियां बहती हैं। मेवाड़ के इतिहास के कई महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान भी इसी क्षेत्र में हैं।

पहाड़ी भागों से निकली नदियां मैदानी भाग की कृषि के लिए वरदान स्वरूप हैं। मेवाड़ के उत्तर में एक खारे पानी की नदी है, जो अजमेर के निकट बनास नदी में मिल जाती है यही नदी अजमेर और मेवाड़ प्रदेश की विभाजक रेखा भी है। बनास मेवाड़ की सबसे बड़ी नदी है, जो कुम्भलगढ़ के पास एक स्थान से निकलती है। इसकी लम्बाई प्रायः 290 कि.मी. है कोठारी, मेनाल, बेड़च आदि सहायक नदियों को अपने में समाहित कर यह रामेश्वर तीर्थ (मध्य प्रदेश) में चम्बल से मिल जाती है। हल्दी घाटी का प्रसिद्ध युद्ध इसी नदी के तट पर खमनोर के पास हुआ था। गम्भौरी, बेड़च, अहाड़, जाकुम, बाकल आदि मेवाड़ की अन्य नदियां हैं। जाकुम और बाकल में वर्षा में ही अधिक पानी रहता है। इसका पानी भारी तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से

हानिकारक है। बाढ़ आ जाने पर इन नदियों से जन-धन की भारी हानि होती है, किन्तु बाह्य आक्रमणों से ये नदियां वर्षा में मेवाड़ की रक्षा का साधन भी बन जाती थीं। राणा कुम्भा के समय मालवा के सुल्तान को कई बार इन्हीं नदियों के कारण पराजय का मुंह देखना पड़ा था।

मेवाड़ की जलवायु सामान्यतया वहां के निवासियों के लिए सुखकर है, किन्तु बाहरी लोगों के लिए यह अनुकूल नहीं रहती। पर्वतीय क्षेत्रों की जलवायु मैदानी क्षेत्रों की तुलना में अधिक अरुणकर है। ग्रीष्म में यहां गर्मी का इतना प्रकोप होता है कि प्रायः बाहर के लोगों के लिए असहनीय हो जाती है। हल्दी घाटी युद्ध में अपने अनुभव का वर्णन करते हुए बदायूनी ने लिखा है कि 'दोपहर में इतनी गर्मी थी कि उनकी खोपड़ी का खून उबलने लगा था' फलस्वरूप यह जलवायु आक्रमणकारी शत्रु सैनिकों को हराने अथवा हतोत्साहित करने में मुख्य भूमिका निभाती थी।

मेवाड़ में इन प्राकृतिक सुरक्षा साधनों के साथ ही झीलों की भी बहुलता है। अतः इस भू-भाग को झीलों का प्रदेश भी कहा जाता है। महाराणा जयसिंह ने उदयपुर से लगभग 51 कि.मी. दूर जयसमुद्र नामक विशाल झील का निर्माण कराया, जो मेवाड़ की सबसे बड़ी झील है। राजसमुद्र, उदयसागर, पिछोला, फतहसागर और स्वरूपसागर आदि झीलें भी इसी क्षेत्र में हैं।

यद्यपि मेवाड़ का इतिहास राजपूत राजाओं का इतिहास रहा है, किन्तु यहां की भील जाति का भी इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भील मेवाड़ के गहन वनों की एक वीर जाति रही है। मुख्य व्यवसाय कृषि और पशु पालन होते हुए भी इन्होंने समरभूमि में अपनी वीरता का सुन्दर परिचय दिया। महाराणा प्रताप के साथ मुगलों के युद्धों में भीलों ने प्रताप की जिन विषम परिस्थितियों में सहायता की उनका यह कार्य इतिहास में वीरता, स्वामीभक्ति, निःस्वार्थता जैसे गुणों का अद्वितीय उदाहरण है।

मेवाड़ के लिए समय-समय पर विभिन्न नामों का प्रयोग हुआ है। विक्रमी सवत् 1000 के आहड़ के शिलालेख तथा अन्य प्राचीन साहित्य में इसका नाम 'मेदपाट' मिलता है। मेदपाट शब्द का ही प्रचलित रूप आज मेवाड़ हो गया है। डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मत के अनुसार इस भूभाग में मेद (मेव या मेर) जाति का अधिकार रहा। अतः इसका नाम मेवाड़ पड़ गया। करनवेल के लेख से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में मेवाड़ का नाम प्राम्वाट भी था। 300 वर्ष पूर्व विक्रमी के सिक्कों से प्रमाणित होता है कि इसका तत्कालीन नाम शिवि जनपद था। अतः इसका मेदपाट नाम क्यों पड़ा, इस विषय में विद्वान किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते। डॉ. ओझा मेव जाति से इसका सम्बन्ध जोड़ते हुए लिखते हैं कि मेवाड़ का एक भाग मेवल तथा दूसरा भाग मेरवाड़ कहा जाता है, किन्तु किसी जाति विशेष से समस्त मेवाड़ मेव या मेर जाति का देश कहा जाए, यह बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। इस विषय में डॉ. गोपीनाथ शर्मा लिखते हैं--

“डॉ. ओझाजी का कहना है कि इस देश पर पहले मेद अर्थात् मेव या मेर जाति का अधिकार रहने से इसका नाम मेदपाट पड़ा!” इस तर्क कि पुष्टि में वे लिखते हैं कि इसलिए मेवाड़ का एक भाग मेवल तथा दूसरा भाग मेरवाड़ा कहलाता है। हमारे विचार से एक जाति विशेष से सारा

मेवाड़ मेद या मेव जाति का देश नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त सर्वविदित है कि यहां अन्य जातियां भी प्राचीन काल में प्रभावशाली रही हैं । वास्तव में यह नाम मेवाड़ के परम्परागत शौर्य से सम्बन्धित है । मेद का अर्थ म्लेच्छ से है । और पाट का अर्थ शत्रु के विनाश से है । हम जानते हैं कि मेवाड़ सदियों से शत्रु से टक्कर लेता रहा और उसका विध्वंस करता रहा ।”

वस्तुतः मेदिनी के समान ही मेदपाट की व्युत्पत्ति भी समझी जा सकती है । पौराणिक कथाओं के अनुसार भगवान द्वारा मारे गए असुर की मेदा (चर्बी) से मेदिनी (पृथ्वी) का निर्माण हुआ था । इसी प्रकार मेदघाट का अर्थ होगा ऐसी भूमि, जिसे शत्रुओं का विनाश करके उनसे पाट दिया गया हो ।

मेवाड़ □ का राजवंश

इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व भी मेवाड़ में जनजीवन का अस्तित्व था । आहाड़ की खुदाई से पता चलता है कि यहां उस काल में भी नदियों के तट पर मानव बस्तियां थीं । आहाड़ का समय ईसवी पूर्व दूसरी से पहली शताब्दी तक माना जाता है । इन सब से स्पष्ट है कि मेवाड़ भूमि का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है । महाराणा प्रताप के पूर्वजों ने इस भूमि पर सर्वप्रथम छठी शताब्दी में राज्य की स्थापना की । इस वंश का प्रथम शासक, जिसने यहां नवीन राजवंश की आधारशिला रखी गुहादित्य था । इसलिए इस वंश का प्रारम्भिक राम गुहिल या गुहिलोत वंश है । इसी की एक शाखा बाद में सिसौदिया वंश भी कही गई ।

गुहादित्य का मूल स्थान बलमी राज्य था । अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे बलमी छोड़नी पड़ी । वहां से भागकर वह ईडर होता हुआ नागदा पहुंचा । नागदा से उसने मेवाड़ पर आक्रमण किया और इसे जीत लिया । फिर उसी ने यहां नवीन राजवंश की स्थापना की । यह वंश परम्परा से सूर्यवंशीय राजा राम के पुत्र कुश की सन्तान माना जाता है । गुहादित्य के बाद इस वंश में आगे चलकर महान् प्रतापी राजा कालभाज हुआ, जिसका दूसरा नाम वप्पा या वापा रावल भी है । उसने चित्तौड़ के तत्कालीन शासक मानसिंह को युद्ध में पराजित कर चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया । इस प्रकार चित्तौड़ भी मेवाड़ राज्य का भाग बन गया । वप्पा रावल का शासनकाल सन् 734 से 753 ई. तक माना जाता है । उसे विदेशी आक्रान्ता अरबों से मातृभूमि की रक्षा करने वाला अप्रतिम वीर माना जाता है । वप्पा रावल के पश्चात् उसका वंशज खुमाण द्वितीय हुआ, जो एक प्रसिद्ध शासक था । उसका शासनकाल सन् 812 से 836 ई. तक, प्रायः चौबीस वर्ष रहा । (अनेक इतिहास वेत्ताओं का मत है कि अरबों से देश की रक्षा वस्तुतः खुमाण प्रथम ने की; न कि वप्पा रावल ने । संभवतः उसने गुजरात और काठियावाड़ के शासकों के साथ मिलकर अरब आक्रमणकारियों को मुल्लान और सिन्ध में पराजित किया तथा आगे बढ़ने से रोका, ।)

खुमाण द्वितीय की कई पीढ़ियों बाद सन् 1191 ई. में मेवाड़ पर उसके वंशज सुमेरसिंह का शासन था । इसी समय शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर आक्रमण किया था । सुमेरसिंह का आठवां वंशज रत्नसिंह था, जिसकी पत्नी का नाम पद्मिनी था । अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ पर

आक्रमण के समय रानी पद्मिनी के जौहर व्रत की कथा अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसी रानी पद्मिनी के जीवन से प्रेरणा लेकर सुप्रसिद्ध सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत महाकाव्य की रचना की, जो हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि है, यह बात और ऐतिहासिक पुस्तकों में इस जौहर व्रत का उल्लेख तक नहीं है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक लोक कथाओं की तरह पद्मिनी की कथा को भी अप्रमाणिक तथा किवदन्ती मात्र ही माना जाता है।

खुमाण द्वितीय की कई पीढ़ियों बाद इस वंश में हमीर नाम का शासक हुआ, जो इस बीच के सभी शासकों में एक मात्र उल्लेखनीय शासक था। उसका शासनकाल 1326 से 1364 ई. तक रहा। इसके शासन से पूर्व 1303 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने मेवाड़ पर हमला करके राजधानी चित्तौड़ पर अपना अधिकार कर लिया था तथा अपने पुत्र को यहां का सूबेदार बना दिया था। महाराज हमीर वप्पा रावल के ही समान वीर शासक था। चित्तौड़ पर विदेशी शासकों के अधिकार को वह अपमानजनक एवं अपनी गौरवशाली परम्परा के विरुद्ध समझता था। वह इस विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के सपने देख रहा था।

सिंहासन पर बैठते ही हमीर ने सर्वप्रथम अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाना आरम्भ कर दिया और कम समय में ही उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली। जब उसे विश्वास हो गया कि वह अलाउद्दीन खिलजी से सामना करने में समर्थ है, तो उसने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। दोनों पक्षों में युद्ध हुआ और चित्तौड़ पर हमीर का अधिकार हो गया। निश्चय ही उसका यह कार्य प्रशंसनीय एवं वीरोचित था उसी (हमीर) ने सर्वप्रथम महाराणा की पदवी धारण की, जो कालान्तर में उसके वंशजों की अविच्छिन्न पदवी बनी। इसी के बाद मेवाड़ राज्य का विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। खिलजी वंश के राजकुमार को पराजित करने के बाद हमीर ने तुगलक शासक से युद्ध किये। इन युद्धों में उसे विजयश्री प्राप्त हुई। इन विजयों के परिणामस्वरूप जीलवाड़ा, चेताख्यपुर, पालनपुर तथा ईडर भी मेवाड़ राज्य में सम्मिलित हो गये। हमीर ने अपने जीवनकाल में ही राज्य भार अपने ज्येष्ठ पुत्र क्षेत्रसिंह को सौंप दिया। क्षेत्रसिंह एक योग्य पुत्र था। उसने अपने पिता के कार्य को आगे बढ़ाया और अजमेर, जहाजपुर, माण्डलगढ़ तथा छप्पन पर अधिकार कर राज्य का विस्तार किया। उसने अपने पराक्रम से मालवा के सुल्तान अमीशाह को भी युद्ध में पराजित किया। उसके बाद उसका पुत्र लाखा 1382 ई. में मेवाड़ का शासक बना, जिसे अनेक बार मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। अपने शासनकाल में लाखा ने लोकहित के अनेक कार्य किये, इसकी पुष्टि अनेक शिला लेखों से होती है। बाद में उसका पुत्र मोकल मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा जिसने 1428 ई. में नागौर के शासक फिरोज खां पर विजय प्राप्त कर ख्याति अर्जित की।

1433 ई. में मेवाड़ की सत्ता महाराणा कुम्भा के हाथों में आई, जिसे इतिहासकार मेवाड़ की प्रतिष्ठा के लिए एक स्वर्णिम काल की संज्ञा देते हैं। उसने मालवा और गुजरात के शासकों को कई युद्धों में पराजित किया, विद्रोहियों का दमन किया और 1433 ई. से 1437 ई. के मध्य आबू बसन्तगढ़ आदि पर अधिकार कर लिया। बूंदी के हाड़ा शासक को परास्त कर उसने माण्डलगढ़ और नाराणा पर अधिकार किया। अजमेर भी उसके शासन काल में मेवाड़ का अंग

बन गया । उसने राज्य की सुरक्षा के लिए अनेक दुर्गा का निर्माण कराया । वह विजयी होने के साथ ही विद्यानुरागी, कलाप्रेमी, विद्वानों का सम्मान करने वाला तथा अन्य शासकोचित गुणों से सम्पन्न था । बाद में उसने दिल्ली सल्तनत के कुछ भागों को भी अपने अधिकार में कर लिया । उसकी वीरता से प्रसन्न होकर इन शासकों ने उसे एक छत्र तथा हिन्दू खुरत्राण की उपाधि दी । इसी महान शासक के प्रताप से मेवाड़ राजपूतों का प्रमुख राज्य बन गया ।

कभी-कभी सुन्दर उपजाऊ भूमि में भी कंटीली झाड़ियां उग जाती हैं, जो उस भूमि को नष्ट कर डालती हैं । ऐसा ही राणा कुम्भा के साथ हुआ । इस महाप्रतापी और गुणवान राजा की उसी के पुत्र उदा ने हत्या कर दी । उदा एक अयोग्य और अनुदार शासक सिद्ध हुआ । फलतः राज्य के सभी सामन्त उसके विरोधी बन गए । उन्होंने उदा के छोटे भाई रायमल को मेवाड़ का शासक बनाने का निश्चय किया, जो उस समय अपने ससुराल ईडर में था । सभी सामन्तों ने रायमल का साथ दिया । लोभी उदा भला सामन्तों से कहां सहमत होता । अतः रायमल के नेतृत्व में सभी सामन्तों की सेना का उदा की सेना से युद्ध हुआ । दाड़िमपुर, जावी, पानगढ़ और चित्तौड़ सभी स्थानों पर उदा का पराजय का मुंह देखना पड़ा । अन्त में 1437 ई. में रायमल का सम्पूर्ण मेवाड़ पर अधिकार हो गया । रायमल एक योग्य शासक था । वह अपने पूर्व शासकों के समान माफ आदि के शासकों से युद्ध करता रहा, किन्तु दुर्भाग्य से रायमल को अपने पुत्रों, भाई तथा भतीजों के विरोध का भी सामना करना पड़ा । इस घर की फूट से मेवाड़ की आन्तरिक दशा का दयनीय हो जाना स्वाभाविक था । मेवाड़ की अर्थव्यवस्था चरमरा गई थी । सौभाग्य से उसकी बाहरी प्रतिष्ठा बनी रही । इस समय दिल्ली पर सिकन्दर लोदी का शासन था, जो अपने निकटस्थ विरोधियों का ही दमन करने में व्यस्त था । वह एक योग्य एवं दूरदर्शी शासक था, अतः उसने मेवाड़ से उलझना उचित नहीं समझा । मालवा और गुजरात के शासक भी दिल्ली के सपने देख रहे थे । इससे पूर्व के शासक मेवाड़ पर युद्ध करके भारी हानि उठा चुके थे, अतः अभी मेवाड़ से उलझना उचित नहीं समझते थे ।

इन विषम परिस्थितियों में 4 मई 1508 को मेवाड़ के सिंहासन पर राणासंग्राम सिंह का राज्याभिषेक हुआ, जो भारतीय इतिहास में राणा सांगा के नाम से प्रसिद्ध है । सिंहासन पर बैठते समय राणा सांगा की आयु सत्ताईस वर्ष थी । शासन सत्ता संभालते ही राणा सांगा ने सर्वप्रथम मेवाड़ के उन प्रदेशों पर अधिकार करने का विचार किया, जो राणा कुम्भा के बाद अन्य राज्यों के अधिकार में चले गए थे । उसने मालवा के सुल्तान महमूद को हराकर बन्दी बना लिया तथा रणथम्भौर, कालपी, गागरौन, मिलसा और चन्देरी पर अपना अधिकार कर लिया । इस विजय से उसका उत्साह बढ़ा और दिल्ली के सुल्तान के कुछ प्रदेशों पर उसने अधिकार कर लिया । गुजरात राज्य को उसने लूटकर छोड़ दिया । सम्पूर्ण राजपूताना के तथा कुछ अन्य शासकों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली ।

राणा सांगा भारतीय इतिहास का एक अप्रतिम वीर और परम देशभक्त शासक था, किन्तु उसके द्वारा बाबर को भारत पर आक्रमण का निमन्त्रण दिया जाना निश्चय ही उसके यश को कम कर देता है । उसने दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को पराजित करने के लिए बाबर को

आमन्त्रित किया। कदाचित् उसका विचार रहा हो कि इब्राहिम लोदी को पराजित करके बाबर वापस लौट जाएगा, परन्तु ऐसा नहीं हुआ और बाद में राणा सांगा को भी बाबर से युद्ध लड़ने पड़े। मार्च, 1527 में खानवा के युद्ध में बाबर से हार जाने पर उसकी प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुंचा।

मेवाड़ □ में अव्यवस्था का काल

30 जनवरी 1528 को महाराणा सांगा के देहावसान के बाद मेवाड़ में अव्यवस्था का काल प्रारम्भ हो गया। अनेक गुणों से सम्पन्न होने पर भी राणा सांगा में राजनैतिक दूरदर्शिता का अभाव था। उसने अपनी रानी कर्मवती के पुत्रों विक्रमाजीत तथा उदयसिंह रणथम्भौर को जागीर दे दी। मेवाड़ के इतिहास में ऐसा प्रथम बार हुआ था। इसके पीछे मुख्य भूमिका रानी कर्मवती की ही थी। राणा के इस निर्णय से मेवाड़ का वातावरण अशान्त हो गया। मेवाड़ के राजसिंहासन पर सांगा के बाद उसका पुत्र रतनसिंह का अधिकार था। सत्ता पर अधिकार होते ही उसने रणथम्भौर की जागीर को वापस लेना चाहा। इससे राजपरिवार में ही फूट और दलबन्दी प्रारम्भ हो गई। रतनसिंह एक अयोग्य, भीरू तथा लापरवाह शासक था। कर्मवती इस समय अपने भाई सूरजमल के संरक्षण में रहती थी। वह अपने पुत्र को मेवाड़ का शासक बनाना चाहती थी। रतनसिंह द्वारा रणथम्भौर की जागीर वापस मांगे जाने पर वह टालमटोल करने लगी। उसने षड्यंत्र आरम्भ कर दिया। और बाबर के पास सन्देश भिजवाया कि वह उसके पुत्र को मेवाड़ का राज्य दिलाने में सहायता करे। इसके बदले में उसे रणथम्भौर का किला तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएं भेंट में दी जाएंगी। बाबर इसके लिए सहमत हो गया था, किन्तु घटनाचक्र कुछ इस प्रकार का बना कि वह अन्य आवश्यक कार्यों में व्यस्त हो गया और कर्मवती को सहायता नहीं दे पाया। इस पर कर्मवती ने दूसरी चाल चली। उसके भाई सूरजमल ने 1531 में रतनसिंह को शिकार खेलने के लिए बूंदी बुलाया और उसकी हत्या कर दी।

रतनसिंह की हत्या से मेवाड़ में क्षोभ का वातावरण बन गया। जनता स्वयं को असुरक्षित अनुभव करने लगी। ऐसे समय में विक्रमाजीत मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा। वह एक उद्वण्ड, स्वेच्छाचारी, क्रोधी तथा पूर्णतया अयोग्य शासक था। उसे राजनीति और युद्ध कला का कुछ भी ज्ञान न था। वह सदा सुरा-सुन्दरी के सहवास में डूबा रहता था। वह राज्य को केवल ऐश्वर्य की वस्तु समझता था। फलतः राज्य में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। विक्रमाजीत से असन्तुष्ट होकर कुछ राजपूत सामन्त गुजरात के शासक बहादुरशाह के पास पहुंचे। और उसके साथ मिलकर मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। विक्रमाजीत में इतनी योग्यता नहीं थी कि वह इस आक्रमण का सामना करता। रानी कर्मवती ने अपने पुत्रों को सुरक्षित स्थान पर भेज दिया तथा हुमायूं से सहायता मांगी। हुमायूं संभवतः एक राजपूत के पक्ष में अपने सहधर्मी से युद्ध में नहीं उलझना चाहता था, अतः कर्मवती का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने पर भी उसने कोई सहायता नहीं दी। कर्मवती को 13000 स्त्रियों तथा 3000 बच्चों सहित आग में जलकर अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। मार्च 1535 में मेवाड़ की राजधानी पर बहादुरशाह का अधिकार हो गया।

चित्तौड़ पर अधिकार करने के बाद बहादुरशाह ने वहां का शासन अपने प्रतिनिधि बुरहान उल मुल्क बंबानी को सौंप दिया । उसकी अधिकांश सेना के चित्तौड़ से जाते ही राजपूतों ने चित्तौड़ पर पुनः आक्रमण कर लिया । विक्रमाजीत को पुनः मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठाया गया । अधिकतर इतिहास की पुस्तकों में उल्लेख है कि विक्रमाजीत को पुनः गद्दी पर बैठाने में हुमायूँ ने सहायता दी थी, किन्तु डॉ. बनर्जी ने स्पष्ट किया है कि बहादुरशाह द्वारा चित्तौड़ पर घेरे के समय हुमायूँ ग्वालियर में आराम कर रहा था । वह जून 1536 में अपने भाई असकरी का पीछा करते हुए चित्तौड़ पहुंचा था । इससे पूर्व ही विक्रमाजीत का पुनः राज्याभिषेक हो चुका था । पुनः गद्दी पर बैठने पर भी विक्रमाजीत मेवाड़ के असन्तोष तथा अव्यवस्था को दूर नहीं कर सका । अतः उसे गद्दी से उतार दिया गया ।

वनवीर का शासन

सन् 1536 में विक्रमाजीत के पदच्युत होते समय उदयसिंह एक बालक ही था । अतः मेवाड़ के सामन्तों के परामर्श पर वनवीर को राजसिंहासन पर बैठाया गया । वह राणा सांगा के भाई पृथ्वीराज का किसी निम्न कुल की दासी से उत्पन्न पुत्र था । गद्दी पर बैठते ही वनवीर में ईर्ष्याभाव जाग उठा । उसने विचार किया कि जब तक सिंहासन के वास्तविक उत्तराधिकारियों को समाप्त नहीं किया जाएगा, तब तक वह निष्कण्टक राज्य नहीं कर पायेगा । अतः वह उदयसिंह की भी हत्या-करना चाहता था । उदयसिंह उस समय अपनी धाय मां पन्ना के संरक्षण में था । वनवीर हाथ में तलवार लेकर उदयसिंह की हत्या करने पहुंचा । पन्ना वनवीर का मंशा समझ चुकी थी, इसलिए उसने देश एवं जाति के प्रति अपने कर्तव्य को समझते हुए उदयसिंह को सुरक्षित बाहर निकाल दिया और उसकी शैया पर अपने पुत्र को सुला दिया, जो उदयसिंह का ही समव्यस्क था । वनवीर ने उदयसिंह समझकर पन्ना धाय के पुत्र का काम तमाम कर डाला और सन्तोष की सांस ली । इसके बाद शीघ्र ही विक्रमाजीत और उदयसिंह की हत्या का समाचार सम्पूर्ण राज्य में फैल गया । वनवीर अब तक मेवाड़ का कार्यवाहक शासक था । उसने स्वयं को मेवाड़ का राजा घोषित कर दिया । वह एक अत्याचारी शासक सिद्ध हुआ । उसके अत्याचारों से जनता उसके विरुद्ध हो गई ।

1536 में उदयसिंह को सुरक्षित बचाकर पन्ना कुम्भलगढ़ पहुंची । एक वर्ष तक उसने किसी को पता भी न चलने दिया कि उदयसिंह जीवित है । धीरे-धीरे बात खुल गई । मेवाड़ की जनता को इससे अपार प्रसन्नता हुई । एक-एक कर मेवाड़ के सभी सामन्त उदयसिंह को देखने के लिए कुम्भलगढ़ पहुंचे । कई सामन्त स्थाई रूप से वहीं रहने लगे । सबने उदयसिंह के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की तथा इस तथ्य को स्वीकार किया कि वही (उदयसिंह) मेवाड़ के राज-सिंहासन का वास्तविक अधिकारी है । वहीं रहते हुए उदयसिंह अपनी शक्ति बढ़ाने लगा, क्योंकि वनवीर से सत्ता को वापस लेना सरल कार्य नहीं था । जब उसे अपनी शक्ति पर विश्वास हो गया, तो वह सेना लेकर चित्तौड़ जीतने के लिए चल पड़ा । उदयसिंह के आक्रमण का समाचार सुनकर वनवीर के कुंवरसी तंवर के नेतृत्व में सेना भेजी । माहौली गांव में दोनों सेनाओं का सामना हुआ

। भयंकर लड़ाई के बाद उदयसिंह की सेना विजयी हुई । कुंवरसिंह तंवर अपने अनेक सैनिकों के साथ मारा गया ।

इस विजय से उत्साहित होकर उदयसिंह अपने दल-बल सहित चित्तौड़ के लिए चल पड़ा । इस पर वनवीर भी सेना लेकर स्वयं उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा । पुनः दोनों सेनाओं का सामना हुआ । यहां भी उदयसिंह को विजयश्री प्राप्त हुई । वनवीर युद्ध भूमि से भाग खड़ा हुआ । इसके बाद वह संभवतः दक्षिण भारत की ओर चला गया । फिर उसका क्या हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार भाग्य ने उदयसिंह का साथ दिया और 1540 ई. में वह अपने पूर्वजों के राज्य मेवाड़ का स्वामी बन गया । उस समय मेवाड़ की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी, अतः उदयसिंह को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । जब उदयसिंह ने चित्तौड़ को, कठिन संघर्ष के बाद, अनाधिकार सत्ता हथिया लेनेवाले वनवीर के हाथों से छुड़ाकर अपना राजतिलक करवाया, तो प्रताप की आयु लगभग बारह वर्ष थी । लेकिन उस समय मेवाड़ न तो संपन्न रह गया था और न सुरक्षित । सारा प्रदेश भय से आक्रांत था । व्यवस्था बिगड़ी हुई थी । उदयसिंह के गद्दी पर बैठने के चार वर्ष के अन्दर ही शेरशाह ने चित्तौड़ की ओर कूच कर दिया । परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि सीधा मुकाबला किया जा सकता । जब शेरशाह जहाजपुर तक पहुंच गया तो उदयसिंह ने चित्तौड़ के किले की चाबियां उसके पास पहुंचा दीं । यह चतुराई काम आई । चित्तौड़ पर आक्रमण नहीं हुआ और उस पर उदयसिंह का अधिकार प्रायः वैसा ही बना रहा । चित्तौड़ में नियुक्त शेरशाह के प्रतिनिधि ने भी ज्यादा हस्तक्षेप नहीं किया । शेरशाह की मृत्यु के बाद तो उसे वहां से खदेड़ दिया गया । अब तक खुले स्थान में स्थित एक किले की रक्षा के लिए सारे मेवाड़ को दांव पर लगा दिया जाता था । अब यह नीति त्याग दी गई । पहाड़ों से घिरे उदयपुर को, जो चित्तौड़ से कहीं अधिक सुरक्षित था, नई राजधानी बनाया गया । अरक्षित क्षेत्रों में रहनेवालों को लाकर उदयपुर के आसपास बसाया गया । निर्माण के नए नए काम हाथ में लिए गए और इस प्रकार मेवाड़ की प्रतिष्ठा फिर से बनाई जाने लगी । उदयसिंह के प्रयत्नों से मेवाड़ का गौरव भी बढ़ा और साथ ही प्रदेश को सुरक्षा और शांति प्राप्त हुई ।

मेवाड़□ की राजवंशावली

मेवाड़ के इस राजवंश का सम्बन्ध सूर्यवंश से स्थापित करते हुए भागवत् आदि धार्मिक साहित्य में भी इसकी वंशावली प्राप्त होती है । अनेक ऐतिहासिक पुस्तकों में भी वह वंशावली प्राप्त होती है । इनके नामक्रमों में पर्याप्त विषमता भी दिखाई देती है । कुछ पुस्तकों में कुछ नाम आगे - पीछे हैं, तो कुछ में नये नाम भी जोड़ दिए गए हैं । वीरविनोद के लेखक ने पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर गुहिल (गुहादित्य) से फतहसिंह तक निम्न वंशावली दी है-

1. गुहिल	8. वापा	15. शक्तिकुमार
2. भोज	9. खुमाण	16. शुचिवर्मा
3. महेन्द्र	10. भर्तृभट्ट	17. नरवर्मा
4. नाग	11. सिंह	18. कीर्तिवर्मा
5. शील	12. अल्लट	19. वैरट
6. अपराजित	13. नरवाहन	20. वैरिसिंह
7. महेन्द्र	14. शालिवाहन	21. विजयसिंह

22. अरिसिंह	41. पृथ्वीपाल	60. अमरसिंह
23. चौड़सिंह	42. भुवनसिंह	61. कर्णसिंह
24. विक्रमसिंह	43. भीमसिंह	62. जगतसिंह
25. क्षेमसिंह	44. जयसिंह	63. राजसिंह
26. सामन्तसिंह	45. लक्ष्मणसिंह	64. जयसिंह
27. कुमारसिंह	46. अजयसिंह	65. अमरसिंह
28. मथनसिंह	47. अरिसिंह	66. संग्रामसिंह
29. पद्यसिंह	48. हमीरसिंह	67. जगतसिंह
30. जैतसिंह	49. क्षेत्रसिंह	68. प्रतापसिंह
31. तेजसिंह	50. लक्षसिंह	69. राजसिंह
32. समरसिंह	51. मोकल	70. अरिसिंह
33. रत्नसिंह	52. कुम्भकर्ण	71. हमीरसिंह
34. कर्णसिंह	53. उदयकर्ण	72. भीमसिंह
35. राहप्प	54. रायमल	73. जवानसिंह
36. नरपति	55. संग्रामसिंह	74. सरदारसिंह
37. दिनकरण	56. रत्नसिंह	75. स्वरूपसिंह
38. जशकरण	57. विक्रमादित्य	76. शम्भुसिंह
39. नागपाल	58. उदयसिंह	77. सज्जनसिंह
40. पूर्णपाल	59. महाराणा प्रताप	78. फतहसिंह

यह उल्लेखनीय होगा कि महाराणा प्रताप मेवाड़ के सिंहासन पर केवल पच्चीस वर्ष रहे, लेकिन इतने समय में ही उन्होंने ऐसी कीर्ति अर्जित की जो, देश-काल की सीमा को पार कर, अमर हो गई। वह और उनका राज्य वीरता, बलिदान और देशाभिमान के पर्याय बन गए। यों

तो मेवाड़ पहले ही राजपूत राज्यों में अग्रणी था । मेवाड़ के राजाओं ने, अपने सामंतों और जनता के सहयोग से, ऐसी परंपराएं स्थापित कर दी थीं कि राज्य का छोटा क्षेत्रफल या जनसंख्या की कमी उसकी कीर्ति को बढ़ाने में बाधक नहीं बनी । ऐसे कठिन अवसर भी आए जब मेवाड़ का झंडा झुकता नजर आया । लेकिन मेवाड़ियों के पराक्रम और तेज से वह फिर से आकाश में फहराने लगा ।

यह मेवाड़ का सौभाग्य था कि एक के बाद एक योग्य और देशाभिमानी शासक उसकी गद्दी पर बैठे यद्यपि बीच में कुछ कमजोर राजा भी हुए । इस राज्य की स्थापना के लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद तक, यानी बापा रावल के समय से ही यह क्रम चलता रहा और, महाराणा प्रताप के सिर्फ वर्ष पहले, राणा सांगा ने मेवाड़ को कीर्ति के शिखर तक पहुंचा दिया । उसकी ख्याति राजस्थान को पार कर दिल्ली तक जा पहुंची । उससे भी दो पीढ़ी पहले राणा कुम्भा अपनी विजयों और निर्माण कार्यों के कारण मेवाड़ को एक नया गौरव प्रदान कर गया था । उसके शासनकाल में साहित्य और कला का भी असाधारण विकास हुआ । स्वयं राणा को भी लिखने का शौक था, और उसकी रचनाएं आज तक आदर के पड़ी जाती हैं । उसके राज्य का वातावरण उच्च कोटि की कला और साहित्य के सृजन के अनुकूल था । ये उपलब्धियां एक पूरी परंपरा की देन थीं जिसका अनेक पीढ़ियां पोषण करती आ रही थीं ।

द्वितीय अध्याय

प्रारम्भिक जीवन

जिस समय उदयसिंह मेवाड़ का शासक बना, लगभग उसी समय दिल्ली पर शेरशाह सूरी ने अधिकार कर लिया था। उसने मुगल सम्राट हुमायूँ को भारत से खदेड़ दिया था। उदयसिंह के राज्याभिषेक के चौथे वर्ष 1544 ई. में शेरशाह ने राजपूताने पर अधिकार करने के लिए प्रस्थान किया। इसी वर्ष उसने मालदेव को पराजित कर जोधपुर पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् वह चित्तौड़ पर अधिकार करने के लिए चल पड़ा। उसने अपना शिविर जहाजपुर में डाला। मेवाड़ की दयनीय स्थिति को देखते हुए उदयसिंह ने चतुराई से काम लेना उचित समझा और चित्तौड़ दुर्ग की चाबियाँ शेरशाह के पास भेज दी। शेरशाह ने उदयसिंह के इस आत्मसमर्पण को स्वीकार कर लिया। उसने मेवाड़ में अपने एक औपचारिक प्रतिनिधि शप्तनशा की नियुक्ति कर दी, किन्तु वास्तविक सत्ता उदयसिंह के पास ही रही। संभवतः मेवाड़ से कर वसूली की सहूलियत व विद्रोह की आशंका को देखते हुए शेरशाह ने यह व्यवस्था की होगी। वह नहीं चाहता था कि मेवाड़ में किसी तरह का असन्तोष फैले।

मेवाड़ पर शेरशाह का अधिकार अधिक समय तक नहीं रह सका। एक वर्ष में ही शेरशाह की मृत्यु हो जाने पर राजपूताने के सभी राज्यों ने अफगानों को अपने यहां से भगाकर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इस तरह 1645 ई. में चित्तौड़ पुनः स्वतन्त्र हो गया।

प्रताप का जन्म

प्रताप महाराणा उदयसिंह के सबसे बड़े पुत्र थे। उनका जन्म रानी जैवन्ताबाई के गर्भ से हुआ था। उनकी जन्मतिथि के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। वीरविनोद के अनुसार महाराणा प्रताप का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला 13 संवत् 1596 वि० अर्थात् 31 मई 1539 ई. को हुआ था। नैनसी के अनुसार उनकी जन्मतिथि 4 मई सन् 1540 है और टॉड कृत राजपूताने के इतिहास में यह तिथि 9 मई 1549 है।

कहा जाता है कि अपने पिता राणा सांगा की मृत्यु (30 जनवरी 1528) के समय राणा उदयसिंह अपनी माँ के गर्भ में ही थे। संभवतः उनका जन्म समय 1528 ई. में फरवरी से नवम्बर तक किसी समय हुआ होगा। 1539 या 1540 ई. में उनकी अवस्था 13 वर्ष से अधिक नहीं होती। अतः इस अवस्था में उनके पुत्र का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इस प्रकार अन्तिम तिथि ही सही जान पड़ती है। इस समय उदयसिंह की अवस्था प्रायः 22-23 वर्ष सिद्ध होती है।

प्रताप के भाई-बहिन

तत्कालीन समाज में बहुपत्नी विवाह का प्रचलन था । उदयसिंह भी इसके अपवाद नहीं थे । वीरविनोद में उनकी अठारह पत्नियों तथा 24 पुत्रों के होने की बात लिखी है, किन्तु नाम निम्नलिखित सात पत्नियों के ही नाम दिये हैं-

पत्नियां	उनसे उत्पन्न सन्तान (पुत्र)
(1) जैवन्ताबाई	1. प्रताप
(2) सज्जाबाई सोलंकिणी	2. शक्तिसिंह
	3. वीरमदेव
(3) जैवन्ताबाई मादड़ेची	4. जैतसिंह
(4) लालाबाई	5. कान्ह
(5) वीरबाई झाली	6. रायसिंह
(6) लक्खाबाई झाली	7. शार्दूलसिंह
	8. रूद्रसिंह
(7) धीरबाई भटियाणी	9. जगमाल
	10. सगर
	11. अगर
	12. साह
	13. पच्याण

इन सात पत्नियों, तथा तेरह पुत्रों के अतिरिक्त ग्यारह अन्य पुत्रों के नाम भी दिये हैं, किन्तु अन्य पत्नियों का नामोलेख नहीं हुआ है । ग्यारह अन्य पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं--

- (1) नारायणदास
- (2) सुल्तान
- (3) लूणकरण
- (4) महेशदास
- (5) चन्दा
- (6) भावसिंह
- (7) नेतसिंह
- (8) नागराज
- (9) वैरीशाल
- (10) मानसिंह
- (11) साहिब खां

साहिब खां कदाचित् किसी मुसलमान पत्नी या उप-पत्नी से उत्पन्न हुआ होगा । यदि वह हिन्दू से मुसलमान बनता, तो उसके हिन्दू नाम का उल्लेख भी अवश्य होता । ध्यान देने पर एक अन्य तथ्य स्पष्ट होता है कि उदयसिंह की किसी भी पुत्री के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । कदाचित् पुरुष प्रधान समाज में पुत्री के प्रति उपेक्षा के कारण ही ऐसा हुआ हो, क्योंकि कोई भी पुत्री न हुई हो, यह बात सत्य नहीं जान पड़ती और इसके साथ ही आगे महाराणा प्रताप की

भी किसी पुत्री का नाम इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिलता है ।

नैनसी के अनुसार उदयसिंह की बीस रानियां तथा 17 पुत्र थे और प्रताप सबसे बड़ी रानी के पुत्र होने के साथ ही सभी पुत्रों में ज्येष्ठ थे, इतना निर्विवाद है । फिर चाहे उदयसिंह की अठारह रानियां हो या बीस और पुत्रों की संख्या 17 हो या चौबीस ।

प्रताप का बाल्यकाल

महाराणा प्रताप के बाल्यकाल अथवा उनके प्रारम्भिक जीवन पर इतिहास की पुस्तकों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता । अतः उनके इस जीवन को उदयसिंह के शौर्यकाल तथा संघर्षों के परिप्रेक्ष्य में ही देखना उचित होगा । प्रताप अपने पिता के सबसे बड़े पुत्र थे और उदयसिंह का शासन सुख-शान्ति से युक्त नहीं रहा । अतः मेवाड़ के इस ज्येष्ठ राजकुमार का बाल्यकाल भी फूलों की सेज नहीं कहा जा सकता । उदयसिंह को अपने जीवन में संघर्ष करते हुए निरन्तर इधर-उधर भागना पड़ा । निश्चय ही इसका प्रभाव बालक प्रताप पर भी पड़ा होगा ।

नई राजधानी उदयपुर का निर्माण

यद्यपि थोड़े समय के लिए ही सही, फिर भी मेवाड़ पर शेरशाह का अधिकार रहा । तब तक मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ थी । उदयसिंह ने विचार किया कि चित्तौड़ राजधानी के लिए एक सुरक्षित स्थान नहीं है इससे प्रेरणा लेकर उन्होंने नयी राजधानी बनाने के विषय में सोचा । इसके लिए गिरवा प्रदेश में एक स्थान का चयन हुआ । पहाड़ियों से घिरा यह स्थान अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित था । विक्रमी संवत् 1616 में इस स्थान पर नवीन राजधानी उदयपुर का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ । इसके आस-पास बसने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया गया और उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएं दी गईं । निश्चय ही उदयसिंह का यह कार्य दूरदर्शितापूर्ण था । इससे उत्तरी मेवाड़ पर होने वाले आक्रमणों से राज्य एवं प्रजा दोनों की सुरक्षा हुई ।

राज्य विस्तार और मैत्री सम्बन्ध

शेरशाह की मृत्यु के बाद उदयसिंह राजपूताने में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में जुट गए । इसके लिए मेवाड़ के समीपवर्ती राज्यों को अपने प्रभाव में लाना था । इस समय राजस्थान में बूंदी सर्वाधिक पुराना राज्य था, जिसमें चौहान राजवंश का शासन था । राव सुर्जन के समय तक पूर्वी बूंदी के राव किसी-न-किसी रूप में मेवाड़ के आधीन रहते थे, किन्तु मेवाड़ की वर्तमान अस्त-व्यस्त स्थिति में बूंदी भी स्वतन्त्र हो गया । इस समय वहां का शासक राव सुरत्राण था । उसके अत्याचारों से सामन्त खिन्न रहते थे । इन सरदारों ने उदयसिंह से सहायता की याचना की । उदयसिंह इसी अवसर की प्रतीक्षा में था । उसे बूंदी पर हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया । बूंदी राजवंश का एक वीर सैनिक हाड़ा सुर्जन उदयसिंह की सेवा में था । उसने कई युद्धों में वीरतापूर्वक भाग लिया था । बूंदी में सुरत्राण के अत्याचारों को देखते हुए

उदयसिंह ने सुर्जन को वहां का राजा बनाने का निश्चय कर उसका राजतिलक कर दिया तथा उसे रणथम्भोर का दुर्गरक्षक बना दिया । सन् 1554 में सुर्जन को सेना के साथ बूंदी पर अधिकार करने के लिए भेजा । सफलता मिलना अवश्यम्भावी था । सुरत्राण युद्ध में पराजित होकर भाग खड़ा हुआ और बूंदी उदयसिंह के आधीन हो गया ।

मेवाड़ के उत्तर में डूंगरपुर राज्य था मेवाड़ की सुरक्षा हेतु इसे आधीन करना आवश्यक था । सन् 1557 से पूर्व ही उदयसिंह ने इस पर आक्रमण करने के लिए सेना भेज दी । संभवतः इस युद्ध में मेवाड़ की सफलता नहीं मिली और हानि उठानी पड़ी ।

पड़ोसी राज्यों पर प्रभाव जमाने के इसी क्रम में उदयसिंह का ध्यान मारवाड़ पर गया । राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मारवाड़ राजपूताने का सबसे शक्तिशाली राज्य हो गया था । वहां का शासक मालदेव भी एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था । वह स्वयं भी अपने प्रभावक्षेत्र का विस्तार करने में संलग्न था । अतः दोनों में टकराव स्वाभाविक था । दोनों ही एक दूसरे को अपने प्रभाव में लाने की प्रतीक्षा में थे । तभी उदयसिंह को यह अवसर मिल गया । उस समय अलवर पर शेरशाह सूरी के एक सेनापति हाजी खां का अधिकार था । शेरशाह की मृत्यु के बाद दिल्ली पर पुनः मुगलों का अधिकार हो चुका था । अकबर मुगल सम्राट हो गया था । उसने हाजी खां को पराजित करने के लिए एक सेना भेजी । सेना के अलवर पहुंचने से पूर्व ही हाजी खां अजमेर भाग गया मालदेव ने उसे लूटने के लिए अपनी सेना भेज दी । हाजी खां उदयसिंह तथा मालदेव की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता से परिचित था । उसने उदयसिंह से सहायता मांगी । उदयसिंह ने उसकी सहायता के लिए राव जयमल मेड़ूतिया, राव सुर्जन तथा दुर्गा सिसौदिया को भेजा । मालदेव की सेना बिना युद्ध किए ही वापस लौट गई । इस घटना से मालदेव और उदयसिंह की शत्रुता और भी बढ़ गई ।

हाजी खां की एक प्रेमिका रंगराय पातर थी, जिसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुन उदयसिंह ने उसे प्राप्त करना चाहा । उसने हाजी खां की सहायता की थी । अतः उसने उक्त पातर की मांग की । हाजी खां ने उसे अपनी पत्नी बताते हुए देना अस्वीकार कर दिया । सामन्तों ने उदयसिंह के इस कार्य का विरोध किया, फिर भी उदयसिंह ने हाजी खां के विरुद्ध सेना भेज दी । हाजी खां ने इस अवसर पर मालदेव से सहायता मांगी । मालदेव भी अवसर की ताक में था । उसने सहायता देना स्वीकार कर लिया । जनवरी 1557 में हरमाड़ा में दोनों पक्षों की सेनाएं एकत्र हो गई । मालदेव के पन्द्रह सौ सैनिक तथा हाजी खां के पांच हजार पठान थे, जबकि मेवाड़ सैनिक इससे बहुत कम थे । सामन्तों ने उदयसिंह को पुनः सलाह दी कि युद्ध न किया जाए, किन्तु उदयसिंह ने किसी की न सुनी । युद्ध का परिणाम वही रहा, जिसकी सम्भावना थी । उदयसिंह की सेना बुरी तरह हार गई तथा अनेक सैनिक मारे गए ।

यह युद्ध मालदेव तथा उदयसिंह का अन्तिम युद्ध नहीं था । दोनों ही राजपूताना में अपनी-अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहते थे । खैरवे के राव जैतसिंह की पुत्री मालदेव की पत्नी थी । मालदेव जैतसिंह की दूसरी पुत्री से भी विवाह करना चाहता था. किन्तु जैतसिंह ने इसे अस्वीकार कर दिया और मालदेव ने इसका परिणाम भुगतने की धमकी दी । जैतसिंह ने विचार

किया कि मालदेव के आक्रमण के विरुद्ध उदयसिंह ही उसकी सहायता कर सकता है । अतः उसने उदयसिंह के पास सहायता के लिए पत्र के साथ अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव भी भेज दिया । उदयसिंह ने दोनों बातें स्वीकार कर ली । जैतसिंह अपनी पुत्री को लेकर कुम्भलगढ़ के पास गुहा नामक गांव पहुंचा, जहां उसकी पुत्री के साथ उदयसिंह का विवाह हो गया । इस घटना से मालदेव के साथ उसके सम्बन्ध और भी कटु हो गए और क्रुद्ध होकर मालदेव ने कुम्भलगढ़ पर आक्रमण कर दिया । मेवाड़ की सेना ने इस आक्रमण का वीरतापूर्वक सामना किया । मालदेव की सेना पराजित होकर भाग खड़ी हुई ।

सिरोही मेवाड़ का एक अन्य समीपस्थ राज्य था इसे अपने प्रभाव में लाने पर मेवाड़ के प्रभाव में वृद्धि होना स्वाभाविक था । घटनाक्रम कुछ इस प्रकार बना कि सिरोही अनायास ही मेवाड़ के प्रभाव में आ गया । वहां के शासक का नाम भी उदयसिंह था । उसने अपने चचेरे भाई मानसिंह से लोहियाणा की जागीर छीन ली । मानसिंह मेवाड़ के उदयसिंह की सेवा में चला गया । राणा उदयसिंह ने उसे अठारह गांवों की जागीर दे दी । सन् 1562 में सिरोही के शासक उदयसिंह की मृत्यु हो गई और मानसिंह वहां का शासक बन गया ।

इन समस्त विवरणों से सिद्ध हो जाता है कि उदयसिंह ने मेवाड़ को सशक्त बनाने के जो प्रयास किए, वह उसकी दूरदर्शिता के सुन्दर प्रमाण हैं ।

उदयसिंह का मुगलों से संघर्ष

मेवाड़ पर उदयसिंह के वंश का छठी शताब्दी से शासन रहा था । इस समय वह कुशलतापूर्वक अपने राज्य का प्रभाव बढ़ा रहा था । सन् 1556 में दिल्ली के सिंहासन पर अकबर का अभिषेक हुआ । इस घटना से भारत की राजनीति में एक नया परिवर्तन आया । अकबर भारत का एकछत्र सम्राट बनना चाहता था । उसकी यह महत्वाकांक्षा उदयसिंह के लिए आने वाली विपत्तियों का कारण बनी । अकबर ने सभी भारतीय राजाओं को अपने आधीन करने की योजना बनाई । वह राजपूतों की वीरता तथा अन्य गुणों से परिचित था । अतः भारत सम्राट बनने के लिए राजपूतों को अपने पक्ष में करना उसने सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझा । सर्वप्रथम 1562 ई. में उसने आमेर के कछवाय नरेश मारमल की पुत्री से विवाह कर इस राज्य को अपना मित्र बना लिया । इसके साथ ही इसी वर्ष उसने राजपूताना के मेड़ता राज्य को भी अपने आधीन कर लिया । समस्त राजपूत राजाओं को अपने आधीन करने के लिए पहले मेवाड़ पर विजय करना आवश्यक था । उदयसिंह मुगलों की आधीनता स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार सहमत न हुए ।

उदयसिंह का एक पुत्र शक्तिसिंह पिता से विवाद हो जाने पर अकबर की शरण में चला गया था । एक बार अकबर ने अपने दरबार में यों ही उपहास में कह दिया कि अन्य राजाओं ने शाही दरबार में डोले भेजे हैं, किन्तु उदयसिंह ने ऐसा नहीं किया । शक्तिसिंह समझ गया कि अकबर कभी भी मेवाड़ पर आक्रमण कर सकता है । सितम्बर 1567 में शक्तिसिंह बिना अकबर को बताये धौलापुर से अपने पिता के पास आया और उसने अकबर की योजना के

विषय में बता दिया ।

मेवाड़ और मुगलों में परम्परागत शत्रुता थी । बाबर और राणा सांगा में चालीस वर्ष पूर्व इसका सूत्रपात हो चुका था । अकबर बाबर से कहीं अधिक महत्वाकांक्षी था । शक्तिसिंह द्वारा अकबर के आक्रमण की पूर्व सूचना मिलने पर उदयसिंह ने अपने राज्य के संभ्रांत नागरिकों तथा अनुभवी सामन्तों की एक सभा बुलाई, जिसमें भावी विपत्ति का सामना करने के विषय में विचार हुआ । इस सभा ने निर्णय दिया कि उदयसिंह परिवार सहित पश्चिमी पहाड़ियों में चला जाए और वहीं रहकर नई बस्ती की सुरक्षा का प्रबन्ध करे । चित्तौड़ दुर्ग की रक्षा का भार जयमल राठौड़ तथा पत्ता को सौंप दिया गया और वहां आठ हजार राजपूत सैनिक नियुक्त कर दिये गये । दुर्ग में पर्याप्त खाद्य तथा युद्ध सामग्री का प्रबन्ध कर दिया गया तथा इनके आस-पास की सभी बस्तियों को भी नष्ट कर दिया गया । कालपी से लाये गये एक हजार बन्दूकधारी सैनिकों को आक्रमणकारियों को रोकने के लिए मार्गों पर मोर्चे के रूप में नियुक्त कर दिया गया ।

यद्यपि अनेक इतिहासकारों ने उदयसिंह के इस कार्य की आलोचना करते हुए उसे कायर सिद्ध किया है, किन्तु परिस्थिति को देखते हुए इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता । वैसे भी यह निर्णय अनुभवी परामर्शदाताओं ने सर्वसम्पत्ति से लिया था । अतः इसे अस्वीकार करना भी उचित न होता ।

अकबर द्वारा चित्तौड़□ पर आक्रमण

सितम्बर 1567 में अकबर चित्तौड़ पर विजय प्राप्त करने के लिए चल पड़ा । मार्ग में शिवपुर तथा कोटा के किलों को जीतता हुआ वह गागरौन पहुंचा । उसके दो सेनापतियों आसफ खां और वजीर खां ने मेवाड़ के एक सुदृढ़ दुर्ग माण्डलगढ़ पर अधिकार कर लिया । अपनी एक सेना को मालवा विजय को विजय करने के लिए भेजकर अकबर भारी दल-बल के साथ चित्तौड़ की ओर बढ़ चला । 23 अक्टूबर 1567 को उसने चित्तौड़गढ़ का घेरा डाल लिया । यह घेरा कई दिनों तक रहा । राजपूतों ने मुगल सेना का वीरता से सामना किया । अकबर की सेना का उत्साह क्षीण होने लगा । इस पर उसने अपनी सेना को सुरंग तथा रनाबात बनाने का आदेश दिया । राजपूत सेना सुरंग बनाने वालों तथा अन्य मुगल सेना का विनाश करने लगी । साबात बनाने वाले कारीगरों के बचाव के लिए मोटे-मोटे चमड़े के छावन बनाये गये । फिर भी मुगलों के अनेक कारीगर मारे गये । सुरंगों से मुगलों ने किले की दीवारें कई स्थानों से तोड़ डालीं, फिर भी राजपूत सैनिकों ने उन स्थानों पर तेल, रूई, बारूद आदि जलाकर शत्रुओं को अन्दर आने से रोका । लम्बे संघर्ष से दुर्ग में भोजन सामग्री का अभाव हो गया । इस युद्ध में अकबर की गोली से जयमल वीरगति को प्राप्त हुआ ।

जयमल की मृत्यु से राजपूतों को बड़ी निराशा हुई । स्पष्ट होने लगा कि पराजय निश्चित है । इस पर दुर्ग के राजपूतों ने पत्ता को अपना सेनापति बनाया । अपने-अपने बच्चों को लेकर किले में स्थित राजपूत रमणियां अग्नि में कूद पड़ी । 24 या 25 फरवरी 1568 की प्रातः

राजपूत अन्तिम संघर्ष के लिए तैयार हो गये । मृत्यु के भय को भूलकर राजपूतों ने किले का द्वार खोल दिया और शत्रुओं पर टूट पड़े । घमासान संघर्ष के बाद मुगल सेना ने चित्तौड़ दुर्ग पर अधिकार कर लिया ।

दुर्ग पर अधिकार हो जाने मात्र से अकबर की रक्तपात की प्यास नहीं बुझी । चित्तौड़ के अनेक नागरिक भी दुर्ग में शरण लिए हुए थे, जिनकी संख्या लगभग तीस हजार थी । दुर्ग में प्रवेश के बाद अकबर ने अन्दर रुके हुए इन सभी निरपराध लोगों का कत्लेआम करा दिया, जो दिन के तीसरे प्रहर तक चलता रहा । ऐसे अमानवीय कार्य का मेवाड़ के इतिहास में कोई अन्य उदाहरण नहीं मिलता । निःसंदेह अकबर महान का यह कृत्य उसकी महानता पर एक काला धब्बा ही कहा जाएगा ।

इस युद्ध में अकबर जयमल और पत्ता की अब्दुत वीरता ले प्रभावित हुए बिना न रह सका । उसने इन वीरों के शौर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की, कहा जाता है कि अकबर इन दोनों की वीरता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने आगरा के किले में इन दोनों की मूर्तियां लगवायी ।

चित्तौड़ में अधिकार में करने के दूसरे वर्ष अकबर ने मेवाड़ के दूसरे दुर्ग रणथमभोर पर भी अधिकार कर लिया । इस दुर्ग के रक्षक राव सुरजनसिंह हाड़ा ने उदयसिंह का पक्ष त्याग कर अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और 1570 ई. के अन्त तक राजपूताना के सभी नरेशों ने एक एक कर अकबर की सत्ता के समक्ष सिर झुका दिये तथा उसकी सेवाएं स्वीकार कर लीं । केवल उदयसिंह ही ऐसा शासक था, जिसने अकबर के समक्ष झुकना स्वीकार नहीं किया । यद्यपि मेवाड़ के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दुर्ग चित्तौड़ पर अकबर का अधिकार हो गया था, तथापि उदयसिंह जीवन पर्यन्त उदयपुर को नई राजधानी बनाकर वहीं से अकबर से संघर्ष करता रहा ।

उदयसिंह द्वारा जगमाल को युवराज पद

प्रताप अपने पिता उदयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे । परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी बनता था, किन्तु उदयसिंह ने इस परम्परा की पूर्णतया अवहेलना कर दी । 1570 में वह कुम्भलमेर गये । वहां उन्होंने सैनिकों की भर्ती की । इन सैनिकों को लेकर वह गोगूँदा पहुंचे । अगले वर्ष वह गोगूँदे में ही रहे । बाद में उनका स्वास्थ्य गिरने लगा । तब उन्होंने धीरजबाई भटियाणी से उत्पन्न अपने पुत्र जगमाल को युवराज घोषित कर दिया । रानी भटियाणी पर वह विशेष अनुग्रह रखता था । संभवतः उसी के कहने पर ऐसा किया होगा । इस विषय में वीर विनोद में लिखा है-

“विक्रमी 1627 (हिजरी 978 ईसवी 1570) में महाराणा कुम्भलमेर पधारे और वहां से फौज इकट्ठी करके गोगूँदे आये और वि० 1628 का दशहरा वहीं किया यह महाराणा जब फाल्गुन के महीने में बीमार हुए, तो उन्होंने अपने पुत्र जगमाल को, जो महारानी भटियाणी से जन्मा था, युवराज बनाया, क्योंकि महारानी भटियाणी पर इन महाराज की जियादह मेहरबानी

थी ।”

परम्परा का उल्लंघन करके छोटे पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित करना निश्चय ही कोई बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं था । ऐसा करने से पूर्व उदयसिंह ने कुछ सामन्तों को अपने पक्ष में कर लिया था । तभी उन्होंने ऐसी घोषणा की । इस निर्णय से प्रताप की आकांक्षाओं पर तुषारपात होना स्वाभाविक था, क्योंकि वस्तुतः वही राज्य के उत्तराधिकारी थे, किन्तु अपने पिता के निर्णय के विरुद्ध उन्होंने उनके जीवनकाल में कुछ किया, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता ।

उदयसिंह की मृत्यु

बहुविवाह से हमेशा ही समस्याएं उठ खड़ी होती हैं-राजा-महाराजाओं के लिए भी । महाराणा उदयसिंह के चौबीस पुत्र थे । प्रताप उनमें ज्येष्ठ था और, परंपरा के अनुसार, राज्य का अधिकारी था । उदयसिंह की अठारह रानियों में प्रताप की माता ही सबसे बड़ी थीं । उदयसिंह ने प्रेम और मोह में फंसकर अपनी कुल-परंपरा और नीति को भुला दिया था, सामंतों ने प्रताप का साथ दिया । सामंतों का निर्णय ही सर्वोच्च होता था और उन्होंने प्रताप को ही राज्य का उत्तराधिकारी माना ।

उदयसिंह ने तो यह तय कर लिया था कि राज्य प्रताप को नहीं छोटे पुत्र जगमाल को मिलेगा । इसका कारण था जगमाल की मां छोटी रानी भटियाणी के प्रति उसका विशेष प्रेम । लेकिन वह जानता था कि इस निश्चय का बड़ा विरोध होगा । इसलिए अपने मन के फैसले को उसने गुप्त रखा । संभवतः अपनी अस्वस्थता से महाराणा उदयसिंह को अपने अन्तिम समय का पूर्वानुमान हो गया था । इसीलिए उसने जगमाल को युवराज बना दिया । थोड़े ही दिनों की अस्वस्थता के बाद 28 फरवरी 1572 को उदयसिंह की मृत्यु हो गयी ।

तृतीय अध्याय

महाराणा प्रताप का राज्याभिषेक

उदयसिंह अपनी सर्वप्रिय रानी भटियाणी के पुत्र जगमाल को युवराज घोषित कर गये थे । गोगूँदा में उदयसिंह की मृत्यु के बाद जब उनके अन्तिम संस्कार के लिए पार्थिव शरीर शमशान ले जाया गया, तो वहां जगमाल नहीं गया । मेवाड़ की परम्परा के अनुसार राज्य का उत्तराधिकारी पूर्व राजा के दाह संस्कार में सम्मिलित नहीं होता था । उदयसिंह द्वारा जगमाल को युवराज घोषित किए जाने की सूचना से अधिकांश सामन्त अनभिज्ञ थे शमशान में जगमाल की अनुपस्थिति से सामन्तों को आश्चर्य हुआ । इस पर ग्वालियर के राजा रामसिंह ने जगमाल के छोटे भाई राजकुमार सगर से पूछा- “जगमाल कहां है ? ”

“क्या आप नहीं जानते कि स्वर्गीय महाराणा ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया है ।” सगर ने उत्तर दिया ।

मेवाड़ के पक्ष में राव चूड़ा ने अपना राज्य मेवाड़ में मिला दिया था । तब से राज्य का स्वामी सिसौदिया राजवंश का ज्येष्ठ पुत्र तथा राज्य का प्रमुख करने वाला चूड़ा का वंशज माना जाता था । अतः पाट के (राज्य के) स्वामी महाराणा तथा ठाठ (व्यवस्था) के प्रमुख चूड़ा माने जाते थे । सगर से जगमाल को युवराज बनाये जाने का समाचार सुनकर प्रताप के मामा जालौर के राव अखेसिंह ने चूड़ा के पोतों रावत कृष्णदास और रावत सांगा से कहा-आप चूड़ा हैं, अतः राज्य के उत्तराधिकारी का चुनाव आवकी सम्पत्ति से ही होना चाहिए । मेवाड़ की स्थिति चिन्तनीय है । अकबर जैसे प्रबल शत्रु सिर पर है । मेवाड़ उजड़ रहा है । ऐसी स्थिति में यदि यह घर का कलह भी बढ़ गया तो, राज्य की बर्बादी में क्या सन्देह !”

मेवाड़ की ऐसी विषम परिस्थिति में किसी योग्य व्यक्ति को ही महाराणा बनाना उचित था । प्रताप सभी प्रकार से इसके लिए योग्य थे । प्रचलित नियत के अनुसार भी वही इसके अधिकारी थे । वहां उपस्थिति सभी सामन्त भी इसी पक्ष में थे । अतः रावत कृष्णदास और रावत सांगा ने अपना निर्णय सुना दिया-

‘पाटवी हकदार और बहादुर प्रतापसिंह किस कसूर से खारिज समझा जाए’

प्रताप में एक नई आशा का संचार हुआ । अन्यथा वह मेवाड़ छोड़ देने के विषय में विचार करने लगे थे । उनके मेवाड़ छोड़ने का अर्थ होता-अपने अधिकार के लिए जगमाल से संघर्ष का प्रारम्भ । सामन्तों के निर्णय से यह संघर्ष टल गया ।

जगमाल की जगह प्रताप-महाराणा

उधर जगमाल अपना राजतिलक करा रहा था। उदयसिंह की अंत्येष्टि के बाद जब सभी सामन्त राजमहल में आये, तो जगमाल राजसिंहासन पर बैठा हुआ था। प्रताप राजमहल के बाहर ही रुक गये। सामन्तों ने जगमाल को “तुम्हारा स्थान सिंहासन नहीं, अपितु इसके सामने है” कहते हुए हाथ पकड़कर सिंहासन के सामने बैठा दिया, क्योंकि मेवाड़ में महाराणा के भाई सिंहासन के सामने बैठते हैं। जगमाल को अपमान का घूंट पीकर रह जाना पड़ा, क्योंकि एक तो उसका पक्ष परम्परा से ही दुर्बल था; साथ ही उसके समर्थकों की संख्या भी नगण्य थी। वह बिना कोई विरोध किए निश्चित स्थान पर बैठ गया।

इसके बाद प्रताप को दरबार में बुलाकर सिंहासन पर बैठाया गया। विधिवत् उनका राजतिलक हुआ और ‘प्रतापराव की जय’ के नारों से आसमान गूँजने लगा। इसके बाद प्रताप मेवाड़ के महाराणा बन गए। उन्होंने मेवाड़ राज्य की प्रथा के अनुसार अपने सभासदों को भेंटें तथा उपहार दिए। इस प्रकार कहां जगमाल राजपद के सपने देख रहा था और प्रताप मेवाड़ छोड़ने का विचार कर रहे थे किन्तु हुआ इसके सर्वथा विपरीत। प्रताप महाराणा बन गए और जगमाल देखता रह गया। यह समस्त घटना चक्र 28 फरवरी 1572 का है क्योंकि मेवाड़ में शासक की मृत्यु के दिन ही नये उत्तराधिकारी का चुनाव कर दिया जाता था।

जगमाल मुगलों की शरण में

जगमाल अपने अपमान को नहीं भूला था। यद्यपि उसने मेवाड़ में इसका प्रत्यक्ष विरोध नहीं किया, परन्तु अन्दर ही अन्दर उसके लिए मेवाड़ में रहना कठिन हो गया। अतः वह मेवाड़ छोड़कर मुगल सूबेदार की सेवा में अजमेर चला गया। इससे मुगल सूबेदार अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने जगमाल को सहर्ष आश्रय दे दिया। उचित समय पर जगमाल अकबर के पास पहुंचा। अकबर ने उसे जहाजपुर की जागीर प्रदान कर दी। इसके बाद 1583 ई. में अकबर की आज्ञा से उसे सिरोही राज्य का भाग भी दे दिया गया। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अकबर एक तीर से दो शिकार कर रहा था। एक ओर वह मेवाड़ की घर की फूट को बढ़ावा दे रहा था और दूसरी ओर उसने जगमाल को सिरोही का आधा राज्य देकर उसके साले को भी उसका शत्रु बना दिया। सिरोही में अब तक जगमाल के ससुरा राव मानसिंह का शासन था। सिरोही का राज्य भी जगमाल के लिए शुभ नहीं रहा। उसका साला राव सुरत्राण उसका विरोधी बन गया। दोनों के पारस्परिक वैर ने उग्र रूप धारण कर लिया तथा युद्ध छिड़ गया। सन् 1583 में दत्तानी के युद्ध में जगमाल अपने साले के हाथों मारा गया।

महाराणा प्रताप की प्रारम्भिक कठिनाइयां

जिस समय महाराणा प्रताप मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे, उस समय राज्य की स्थिति अत्यधिक खराब हो चुकी थी। लम्बे संघर्ष के परिणामस्वरूप मेवाड़ राजधानी हीन और साधन रहित हो

गया था । अर्थव्यवस्था व व्यापार के अव्यवस्थित हो जाने से सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो गया था । सड़कें टूट चुकी थीं । सारे विकास कार्य रूक गये थे । मेवाड़ का सम्पूर्ण उपजाऊ क्षेत्र मुगलों के अधिकार में चला गया था । मेवाड़ के पूर्वी सीमान्त भागों-बेदनीर, शाहपुरा और रायला भी मुगलों के अधिकार में थे । इन क्षेत्रों में मुगल सत्ता का प्रभाव बढ़ता जा रहा था । अजमेर की दरगाह के लिए मुगल सम्राट द्वारा अनुदान दिया जा रहा था । प्रताप के लिए यह सभी चिन्ता के विषय थे ।

संक्षेप में प्रताप को उत्तराधिकार में छिन्न-भिन्न मेवाड़ का राज्य और प्रबलतम मुगल सम्राट अकबर की शत्रुता ही प्राप्त हुई थी । अब उनसे सामने भावी नीति निर्धारण की समस्या प्रमुख थी ।

राजधानी परिवर्तन तथा नये कार्यक्रम

पहले ही उल्लेख हो चुका है कि चित्तौड़ मुगलों के अधिकार में हो गया था और प्रताप का अभिषेक गोगूंदे में हुआ था । अभिषेक के बाद महाराणा प्रताप कुम्भलगढ़ की पहाड़ियों में चले गये । उन्होंने यहीं कुम्भलगढ़ दुर्ग को अपनी नयी अस्थाई राजधानी बनाया । यहीं उनका विधिवतपूर्ण राजतिलक हुआ । कुम्भलगढ़ में इस अवसर पर जोधपुर के राव चन्द्रसेन भी सम्मिलित हुए, जो प्रताप के मामा थे । दोनों में स्वभावतः परम स्नेह था । इसके बाद यह स्नेह बन्धन और भी सुदृढ़ हो गया । अकबर को अपने गुप्तचरों से इस मिलन का समाचार प्राप्त हो गया । बूंदी, डूंगरपुर, बांसवाडा, रणथम्भोर के चौहानों, ईडर और सिरोही के देवड़ा आदि से प्रताप के मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे । यदि किसी एक से सन्धि भंग भी हो जाती, तो वह दूसरे से नवीन सन्धि कर लेते थे । वह इस तथ्य से अच्छी तरह अवगत हो चुके थे कि मुगल सम्राट से कभी भी युद्ध हो सकता है । अतः उन्होंने समीपवर्ती राज्यों के शासकों से मित्रता की नीति अपनाई, ताकि भविष्य में मुगल आक्रमण का संगठित होकर सामना किया जा सके तथा मेवाड़ पर केन्द्रित आक्रमण न हो सके । इसके साथ ही वह अपनी सैन्य शक्ति को भी बढ़ाते रहे ।

ये समस्त समाचार अकबर तक पहुंच रहे थे । इनसे उसका आशंकित होना स्वाभाविक था । यद्यपि मेवाड़ के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार हो चुका था, किन्तु मेवाड़ ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी, जबकि वह मेवाड़ को अधीन करने के लिए कटिबद्ध था । महाराणा प्रताप की इन समस्त गतिविधियों को विशेष रूप से राव चन्द्रसेन के साथ प्रताप के इस सम्बन्ध को उसने अपने लिए भावी संकट के रूप में देखा । वह इसे सिसौदिया तथा राठौरों का पूर्व समझता था । इसे रोकना आवश्यक था । अतः उसने जोधपुर तथा ई की मुगल छावनियों को और अधिक सुदृढ़ कर अलग-अलग कर दिये । इससे महाराणा प्रताप की स्थिति और अधिक कमजोर हो गयी ।

इससे प्रताप हतोत्साहित नहीं हुए । दीर्घकालीन मुगल संघर्ष से मेवाड़ की जनता में एक और उदासीनता की भावना व्याप्त हो गई थी । प्रताप के लिए इस नकारात्मक भावना को दूर करना सबसे पहला कार्य था । अतः कुम्भलगढ़ को राजधानी बनाने के बाद उन्होंने सबसे पहले मेवाड़ में नवीन चेतना का संचार करना प्रारम्भ कर दिया । इससे मेवाड़ की जनता का देश तथा जाति

के प्रति स्वाभिमान जाग पड़ा। सभी अपनी मान-मर्यादा की रक्षा हेतु तैयार हो गये। मेवाड़ के वनवासी भीलों को भी राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए प्रेरित किया गया। सभी लोग मेवाड़ की स्वतन्त्रता तथा गौरव की रक्षा का संकल्प लेकर किसी भी भीषण स्थिति का सामना करने के लिए कन्धे से कंधा मिलाकर खड़े हो गए। मेवाड़ में एक नये युग की नींव पड़ने लगी।

मुगलों से सन्धि या विग्रह का विकल्प

इस समय अकबर अपने साम्राज्य का विस्तार करने में जुटा था। वह एक चतुर राजनीतिज्ञ था। उसके चरित्र में सावधानी, साहस आदि गुण विद्यमान थे, जो एक कुशल शासक में अनिवार्य रूप से होने चाहिए। वह समस्त राजपूत जाति को अपने अधीन लाना चाहता था। इसी से उसके साम्राज्य की नींव सुदृढ़ हो सकती थी। वस्तुतः वह एक पक्का साम्राज्यवादी था। दूसरी ओर महाराणा प्रताप मेवाड़ को सर्वदा के लिए स्वतन्त्र रखना चाहते थे और वह इसे अपना धर्म समझते थे। वह यह अच्छी तरह समझते थे कि मुगलों की अधीनता का अर्थ मेवाड़ की सार्वभौमिक स्वतन्त्रता का बलिदान है। ऐसा करने पर भले ही उन्हें संघर्षों से मुक्ति मिल जाएगी और वह एक सुखी जीवन जिएंगे, किन्तु उनके नाम के साथ लगा महाराणा शब्द अर्थहीन हो जाएगा और वह अकबर के अधीन एक जागीरदार मात्र बनकर रह जाएंगे।

मुगलों की अधीनता को स्वीकार कर अनेक राजपूत राजा अकबर से अपने पुत्रियों या बहनों का विवाह कर चुके थे। महाराणा प्रताप इसे सबसे अधिक अपमानजनक कार्य समझते थे। उनके पूर्वजों ने भी सदा इसका विरोध किया था। अतः वह ऐसा करके अपने वंश को कलंकित नहीं करना चाहते थे। यह अलग बात है कि अकबर एकपक्षीय विवाह सम्बन्धों का समर्थक नहीं था; वह चाहता था कि राजपूत राजा भी मुगल राजकुमारियों से विवाह करें। वीर विनोद में उल्लेख मिलता है कि उसने (अकबर ने) राजपूत राजाओं के समक्ष इस प्रकार के विवाहों का प्रस्ताव रखा था, किन्तु रक्त की शुद्धता बनाए रखने अथवा किन्हीं अन्य कारणों से राजपूतों ने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया। यह बात बड़ी ही हास्यास्पद प्रतीत होती है कि अपनी बहन-बेटियों की डोली मुगल सम्राट के हरम में भेजने में तो राजपूत राजाओं को किसी प्रकार की लज्जा या अपमान का अनुभव नहीं होता था, किन्तु मुसलमान राजकुमारी से विवाह करना उन्हें अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल जान पड़ता था, जबकि उप-पत्नियों के रूप में मुसलमान स्त्री को रखने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

इस प्रकार की परिस्थितियों पर विचार करके महाराणा प्रताप ने अंततः मुगल दासता को कदापि स्वीकार न करने का निर्णय लिया, क्योंकि एक ओर तो संघर्ष का मार्ग था, दूसरी ओर अपमानपूर्ण! जीवन के मूल्य पर सुखसुविधाएं थी। सन्धि एवं विग्रह दोनों ही में कष्ट था, किन्तु विग्रह का कष्ट भयानक होते हुए भी कीर्ति देने वाला था। पूर्ण जीवन ही महान पुरुषों के लिए सबसे बढ़कर होता है। उन्होंने भी संघर्ष के सम्मानपूर्ण मार्ग को ही अपनाने का निश्चय किया।

अकबर द्वारा मित्रता के प्रयास

अकबर के सामने सम्पूर्ण भारतवर्ष का सम्राट ही एकमात्र लक्ष्य था । चित्तौड़ विजय के बाद अकबर ने मेवाड़ रोक दिया था । संभवतः वह मेवाड़ के महाराणा को यह विचार करने समय देना चाहता था कि दिल्ली सम्राट के साथ मित्रता करने में ही उसका हित है । इस अवधि में प्रताप ने दो प्रमुख कार्य किये-पहला भावी युद्ध को ध्यान में रखकर कार्य क्षेत्र का निर्धारण तथा दूसरा पड़ोसी राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध, ताकि मेवाड़ पर मुगलों का यथासम्भव कम दबाव पड़े ।

मेवाड़ के अभियान को स्थगित कर देने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि 1572 ई. तक अकबर सम्पूर्ण गुजरात पर अधिकार नहीं कर पाया था । अतः उसे पहले गुजरात को अधिकार में लेना था । उदयसिंह के साथ युद्ध में उसे विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई थी । इसलिए वह चाहता था कि मेवाड़ का नया महाराणा युद्ध किये बिना ही उसकी सत्ता को स्वीकार कर ले । इसके लिए उसने स्वयं प्रयास करने प्रारम्भ कर दिये । अपनी इस योजना के अन्तर्गत उसने महाराणा प्रताप के पास चार बार सन्धि प्रस्ताव भेजे, जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है ।

जलाल खां कोरची द्वारा सन्धि प्रस्ताव

महाराणा प्रताप के सिंहासन पर बैठने के छः माह बाद ही सितम्बर 1572 ई. में अकबर ने उनके पास अपना प्रथम सन्धि प्रस्ताव भेजा । इस प्रस्ताव को लेकर जलाल खां कोरची की अध्यक्षता में एक शिष्ट मण्डल प्रताप के पास पहुंचा । जलाल खां कोरची अकबर का एक अत्यन्त चतुर, वाक्पटु तथा विश्वसनीय दरबारी था । महाराणा ने उसका उचित सम्मान किया, किन्तु इस सन्धि प्रस्ताव का कोई परिणाम नहीं निकला । लगभग दो माह तक दोनों पक्षों में वार्ता चली और नवम्बर 1572 में यह शिष्टमंडल वापस लौट गया ।

अकबर इस समय अहमदाबाद में था । सन्धि प्रस्ताव की असफलता से उसे दुःख भले ही हुआ हो, किन्तु वह निराश नहीं हुआ । इसके बाद भी उसने सन्धि प्रस्तावों का क्रम बनाए रखा ।

मानसिंह द्वारा सन्धि प्रस्ताव

प्रथम प्रस्ताव की असफलता के बाद अकबर ने किसी राजपूत को ही महाराणा प्रताप के पास भेजना उचित समझा । इसके पीछे अकबर की बहुत बड़ी कूटनीतिक चाल थी । एक तो सजातीय की बातों का प्रताप पर अनुकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना थी और सजातीय से अपनत्व की भावना होना स्वाभाविक था । यदि सफलता न मिले तो सजातीय का अपमान होने पर राजपूतों में प्रताप के प्रति वैर भावना का उदय होना भी स्वाभाविक था । ऐसा होना अकबर के हित में था । यों अकबर को पूर्ण विश्वास था कि महाराणा प्रताप उसके प्रस्तावों को कदापि स्वीकार नहीं करेंगे । अतः इन सन्धि प्रस्तावों के माध्यम से वह स्वयं को शान्ति का समर्थक और प्रताप को व्यर्थ का हठी सिद्ध करना चाहता था ।

पर्याप्त विचार विमर्श के बाद अकबर ने इस कार्य के लिए मानसिंह को भेजने का निर्णय लिया । वह एक उच्चवंशीय योग्य राजपूत था और मुगलों की सेवा में आने से पूर्व उसके मेवाड़

राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रह चुके थे । यह प्रताप का सजातीय होने के साथ ही अकबर का सम्बन्धी भी था, क्योंकि उसकी बुआ जोधाबाई अकबर से ब्याही गई थी ।

सन् 1573 में शोलापुर की विजय के बाद मानसिंह डूंगरपुर और सलूमबर होता हुआ उदयपुर की ओर चल पड़ा । महाराणा प्रताप उस समय उदयपुर में ही थे । सलूमबर केर सामन्त को मानसिंह की इच्छा का पता चल गया था । उसने महाराणा के पास इसकी सूचना भेज दी और परामर्श दिया कि वह मानसिंह से मिलना अस्वीकार कर दें । मानसिंह के क्रियाकलापों व मनोभावों को जानते हुए भी महाराणा प्रताप उससे मिलना अस्वीकार कर राजपूताना के अन्य शासकों को रूष्ट नहीं करना चाहते थे । अतः जून 1573 में मानसिंह के उदयपुर पहुंचने पर उन्होंने उसका सम्मान किया । सद्भावना पूर्ण वातावरण में दोनों के बीच वार्तालाप आरम्भ हुआ । उस समय प्रताप के सभी मन्त्री तथा युवराज अमरसिंह भी वहां उपस्थित थे ।

इस वार्तालाप में मुख्य रूप से मानसिंह ने अकबर की धर्मनिरपेक्ष नीति तथा राजपूत राजकुमारियों से विवाह की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की तथा महाराणा को परामर्श दिया कि वह अकबर को भारत सम्राट के रूप में स्वीकार कर उसके साथ मित्रता कर ले, किन्तु प्रताप ने राजपूतों की मुगल दासता को स्वीकार कर उसकी सभा में जाना अस्वीकार कर दिया ।

विभिन्न मत

महाराणा प्रताप और मानसिंह के इस मिलन के विषय में अनेक बातें कही जाती हैं । राजस्थान में प्रचलित कहानी के अनुसार महाराणा प्रताप ने वार्तालाप के बाद उदयसागर झील के तट पर मानसिंह को भोज दिया । भोजन के समय महाराणा ने पेट दर्द का बहाना कर युवराज अमरसिंह को भेज दिया । प्रताप ऐसी शर्तें स्वीकार नहीं कर सकते थे जो उनके और मेवाड़ के सम्मान के प्रतिकूल होतीं । अतः उन्होंने भोज पर न जाने का निर्णय लिया । मानसिंह ने अमरसिंह पर जोर डाला कि भोजन में महाराणा को भी बुलाया जाए । अमरसिंह द्वारा महाराणा के पेट दर्द की बात बताए जाने पर भी मानसिंह जिद करता रहा । अन्त में प्रताप ने उनके साथ भोजन करना स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया, क्योंकि अकबर से अपनी बहनों का विवाह करने के कारण महाराणा प्रताप उसके वंश को जातिच्युत समझते थे । इस पर मानसिंह ने चुनौती देते हुए कहा-“इस पेट दर्द की दवा मैं अच्छी तरह समझता हूं । अब तक हमने आपकी भलाई चाही, किन्तु आगे सावधान रहना ।” इस प्रकार जब अकबर ने प्रताप के सम्मान के अनुकूल शर्तें स्वीकार नहीं कीं तो समझौते की बातचीतों का सिलसिला भी खत्म हो गया ।

मानसिंह द्वारा स्पष्ट रूप में युद्ध की चेतावनी दिए जाने पर एक राजपूत ने कहा -“युद्ध में अपने फूफा को भी लेते आना ।” और महाराणा ने कहलवाया-“यदि आप अपनी सेना के साथ आए, तो हम मालपुरे में आपका स्वागत करेंगे और यदि अपने फूफा के बल पर आएंगे, तो जहां अवसर मिलेगा वहीं आपका सत्कार किया जाएगा ।”

अपमानित हो कर मानसिंह वापस चला गया । मानसिंह के सम्मान में बनाया गया भोजन झील

में फिंकवा दिया गया और वहां की भूमि को खुदवा कर उस पर गंगाजल छिड़का गया ।

राजप्रशस्ति एवं वंशभास्कर आदि काव्यों में यह घटना इसी से मिलते-जुलते संक्षिप्त रूप में दी गयी है राजप्रशस्ति महाकाव्य में केवल इतना ही वर्णन हुआ है कि भोजन के समय महाराणा और मानसिंह में किसी विषय पर वैमनस्य हो गया । रामकवि द्वारा जयसिंह के विषय में लिखे गये ऐतिहासिक काव्य में वर्णन है कि भोजन के समय मानसिंह ने महाराणा से कहा कि जब आप भोजन नहीं करते, तो मैं क्यों करूं ! महाराणा ने कहा-“कुंवर आप भोजन कीजिए, मुझे कुछ पेट की शिकायत है, मैं बाद में कर लूंगा । मानसिंह ने कहा “मैं आपके पेट का चूर्ण दे दूंगा ।” इसके बाद उसने भोजन का थाल सामने से हटा दिया और साथियों सहित खड़ा हो गया । रूमाल से हाथ पोंछने के बाद वह बोला कुल्ला बाद में आने पर करूंगा ।”

राना सौ भोजन समय, गही मान यह बान ।

हम क्यों जेंवें आपहू, जेंवत हो किन आन ॥

कुंवर आप आरो गिये, राना भाख्यो हेरि ॥

मोहि गरानी कछू, अबै जेइहूं फेरी ॥

कहीं गरानी की कुंवर, भई गरानी जोही ॥

अटक नहीं कर देऊंगो, तरण चूरण तोहि ॥

दियो ठेलि कांसो कंवर, उठे सहित निज साथ ॥

चुलू आन भरि हां कह्यो, पौछ रूमालन हाथ ॥

अनेक इतिहासकारों ने भी महाराणा द्वारा मानसिंह के अपमान की घटना को सत्य नहीं माना है । उनका मत है कि कर्नल टांड द्वारा राजपूताने के इतिहास में इस घटना का उल्लेख करना नितान्त अनुचित है, क्योंकि इसका आधार समाज में प्रचलित किंवदन्तियां हैं, अतः इसे प्रमाणिक नहीं माना जा सकता ।

प्रताप की तत्कालीन नीतियों का विश्लेषण करने से भी इस घटना की सत्यता पर सन्देह होने लगता है । उस समय प्रताप अपने विरोधियों को ऐसा कोई अवसर नहीं देना चाहते थे जिससे पारस्परिक वैर उग्र रूप धारण कर ले क्योंकि वह मेवाड़ की आन्तरिक व्यवस्था और संगठन में व्यस्त थे । मानसिंह उस समय राजकुमार ही था अतः प्रताप के उसके साथ भोजन में न बैठने पर भी अपमान जैसी कोई बात नहीं थी और युवराज अमरसिंह उसके साथ भोजन करने के लिए बैठा ही था । सबसे बड़ा प्रमाण जो मानसिंह के अपमान की घटना को असत्य सिद्ध करता है, वह है इस घटना के बाद पुनः अकबर द्वारा सन्धि प्रस्ताव भेजा जाना । यदि ऐसा कोई अपमान होता, तो अकबर इसके कुछ ही महीनों बाद भगवानदास को सन्धि प्रस्ताव के साथ मेवाड़ न भेजता; अपितु मेवाड़ पर चढ़ाई कर देता । तत्कालीन किसी भी मुसलमान इतिहासकार ने इस घटना का वर्णन नहीं किया है ।

अबुलफजल और मुतमिद खा ने लिखा है कि महाराणा प्रताप ने अकबर की खिलअत धारण की थी, किन्तु उसके दरबार में उपस्थित होना अस्वीकार कर दिया था । यह वर्णन सर्वथा

अविश्वसनीय जान पड़ता है। वीरविनोद में स्पष्ट लिखा है कि प्रताप ने खिलअत धारण नहीं की। अन्य किसी भी तत्कालीन इतिहासकार ने खिलअत धारण करने की पुष्टि नहीं की है। सर टामस रो और राल्पिच ने स्पष्ट लिखा है कि प्रताप मानसिंह के समक्ष किसी प्रकार नहीं झुके। अतः अबुलफजल का यह वर्णन नितान्त अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि यदि महाराणा ने ऐसा किया तो अकबर ने इसे स्वीकार क्यों नहीं किया। सन्धि प्रस्तावों का क्रम आगे भी क्यों चलता रहा।

इतना स्पष्ट है कि मानसिंह और महाराणा प्रताप के बीच किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सका। अतः मानसिंह को भी असफल होकर लौट जाना पड़ा।

भगवानदास द्वारा सन्धि प्रस्ताव

कोरची तथा मानसिंह दोनों ही प्रताप को मुगल साम्राज्य के आधीन नहीं ला सके। दो बार प्रयत्नों के विफल हो जाने पर अकबर ने मानसिंह के पिता भगवानदास को महाराणा के पास भेजने का निर्णय लिया और सितम्बर-अक्टूबर 1573 ई. में अहमदाबाद विजय के बाद उसे महाराणा से मिलने का आदेश दिया। भगवानदास एक सेना लेकर चल पड़ा। महाराणा को अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए उसने मार्ग में बड़नगर, रावलिया आदि पर अधिकार कर लिया। इन विजयों के बाद वह ईडर पहुंचा। ईडर में वह राजा नारायणदास का अतिथि बना। वहां उसका उचित सम्मान हुआ। महाराणा प्रताप इस समय गोगून्दा में थे, अतः भगवानदास ईडर से गोगून्दा पहुंचा।

दोनों में पुनः सन्धि वार्तालाप हुआ। प्रताप ने राजपूत होने के नाते भगवानदास का उचित सम्मान किया, किन्तु मुगलों के दूत के रूप में नहीं। इस बार भी प्रताप अकबर की आधीनता तथा उसके दरबार में उपस्थित होने के लिए सहमत न हुए। अतः अकबर का यह प्रयास भी असफल रहा।

टोडरमल द्वारा सन्धि प्रस्ताव

तीन सन्धि प्रस्तावों की असफलता के बाद भी अकबर प्रयास करता रहा। उसने चौथा सन्धि प्रस्ताव दिसम्बर 1573 में टोडरमल के माध्यम से भेजा। राजा टोडरमल एक योग्य सेनापति एवं कुशल राजनीतिज्ञ था। वह एक उच्च कुल का हिन्दू था। अकबर को विश्वास था कि जो कार्य पहले के तीन शिष्टमंडल न कर सके, उसे टोडरमल कर लेगा। गुजरात से वापस लौटते समय टोडरमल का भी समुचित आदर-सत्कार किया। सन्धि प्रस्ताव सम्बन्धी वार्ता में टोडरमल ने पूरा प्रयत्न किया कि महाराणा प्रताप अकबर की सत्ता को स्वीकार कर लें और भावी युद्धों से बचे, किन्तु उसे भी सफलता नहीं मिली।

अबुलफजल ने लिखा है कि राणा ने टोडरमल के सामने चापलूसी तथा अधीनता जैसे भाव का प्रदर्शन किया, किन्तु अबुलफजल का यह कथन भी पूर्वाग्रहों युक्त प्रतीत होता है। यदि ऐसा

होता तो आगे युद्ध की स्थिति ही नहीं आती ।

प्रताप परम स्वतन्त्रता प्रेमी होने के साथ ही एक कुशल राजनीतिज्ञ भी थे । उन्होंने अत्यन्त बुद्धिमत्ता के साथ मुगल सम्राट के शान्ति प्रयासों को अस्वीकार कर दिया । संभवतः प्रारम्भ में वह उनमें कुछ कमियां दिखाकर टालते रहे । इसीलिए अकबर पुनः दूत भेजता रहा । इससे महाराणा को इस अवधि में अपनी सैन्य शक्ति तथा भावी योजनाएं बनाने का पर्याप्त अवसर मिल गया । वह मुगलों की दासता को आरम्भ से ही अपने वंश की गरिमा के प्रतिकूल समझते थे । मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए वह बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर थे । इसलिए वह अकबर के दूतों का शान्ति एवं धैर्य से सामना करते रहे, ताकि उनका कोई अविवेक पूर्ण आचरण मेवाड़ के लिए घातक सिद्ध न हो ।

अकबर के सभी शान्ति प्रस्तावों के विफल हो जाने पर युद्ध होना अवश्यम्भावी हो गया था, क्योंकि अकबर यह कभी सहन नहीं कर सकता था कि समस्त राजपूताना के मुगल सत्ता में आ जाने के बाद भी मेवाड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहे । यह सारे दांव-पैच आखिरी लड़ाई के मार्ग पर ले जा रहे थे । परन्तु लगता ऐसा है कि अकबर और प्रताप के मन में शुरू से ही स्पष्ट था कि एक-दूसरे का सामना प्राणघातक युद्ध में हुए बिना नहीं रहेगा । पराधीनता और स्वाधीनता में, जिसके वे प्रतीक बने हुए थे, समझौता नहीं हुआ करता । लेकिन यह दोनों की समझदारी, धीरज और चातुर्य का प्रमाण है कि तलवार निकालने के पहले और सारे साधनों की भी परीक्षा कर ली गई । अकबर को स्वयं चित्तौड़ में जो भुगतना पड़ा, उसे वह भूला नहीं था और प्रताप भी इतनी बड़ी मजबूत चट्टान से टकराने का नतीजा जानते थे । यह विचार कि यदि युद्ध से बचना संभव हो तो क्यों न बचा जाए, पहले तो आपसी बातचीत का रूप लेते रहे । लेकिन उसका आखिरी नतीजा सिर्फ यही निकला कि मेवाड़ की मोर्चाबंदी हो गई । अतः प्रताप भी भावी मुगल आक्रमण का सामना करने को पूर्णतया तैयार हो गये ।

चतुर्थ अध्याय

हल्दीघाटी का युद्ध

सन् 1572 के उत्तरार्द्ध से 1573 तक का पूरा समय सन्धि प्रस्तावों में ही व्यतीत हो गया । अकबर की कूटनीति का प्रथम चरण समाप्त हो गया । इसमें असफल हो जाने पर अकबर के समक्ष अब युद्ध का ही विकल्प शेष रह गया, किन्तु उसने फिर भी मेवाड़ पर यकायक आक्रमण नहीं किया । सन् 1574 से 1576 तक वह प्रतीक्षा करता रहा कि कदाचित् प्रताप सन्धि के लिए सहमत हो जाएं । इसमें भी उसे कोई सफलता नहीं मिली । अतः वह मेवाड़ पर आक्रमण की तैयारियां करने लगा । वस्तुतः यह प्रतीक्षा उसकी विवशता थी, क्योंकि 1574 में वह बंगाल अभियान में व्यस्त था और 1575 में चन्द्रसेन सम्बन्धी मामलों में । सन् 1576 के प्रारम्भ में इन व्यस्तताओं से मुक्त होने पर उसने मेवाड़ अभियान की योजना बनायी ।

अकबर का मेवाड़ □ अभियान

मेवाड़ पर आक्रमण की योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए मार्च 1576 में अकबर स्वयं अजमेर जा पहुंचा । अजमेर पहुंचने के पीछे उसका उद्देश्य -यही था कि वह मेवाड़ पर आक्रमण का समीप से निरीक्षण कर सके । लगभग पन्द्रह दिन तक गहन विचार-विमर्श के बाद उसने मेवाड़ पर आक्रमण करने वाली सेना का सेनापति मानसिंह को बनाने का निर्णय लिया । अब तक के मुगल इतिहास में यह प्रथम अवसर था, जब किसी हिन्दू को सेनापति बनाकर भेजा गया । अकबर के अनेक मुसलमान सेनापति मानसिंह को प्रधान सेनापति बनाने के पूर्णतया विरुद्ध थे । बाद में जब युद्ध में महाराणा प्रताप पकड़े नहीं जा सके, तो कुछ मुसलमानों ने इसके लिए मानसिंह को दोषी ठहराया । प्रसिद्ध इतिहासकार बदायूँनी भी इस युद्ध में साथ गया था । वह चाहता था कि नबी खा नामक सेनापति भी इस युद्ध में भाग ले । उसने नबी खां से भी चलने के लिए कहा, किन्तु कहा जाता है कि मानसिंह के प्रधान सेनापति होने के कारण उसने जाना अस्वीकार कर दिया । उसने कहा-"यदि इस सेना का सेनापति एक हिन्दू न होता, तो मैं पहला व्यक्ति होता जो इस युद्ध में शामिल होता ।"

इन विरोधों के होने पर भी अकबर के निर्णय में कोई परिवर्तन न हुआ और मानसिंह मेवाड़ विजय के लिए चल पड़ा ।

कर्नल जेम्स टॉड ने न जाने किस आधार पर लिखा है कि महाराणा प्रताप के विरुद्ध मुगल सेना का नेतृत्व अकबर के पुत्र शहजादा सलीम ने किया । तत्कालीन किसी भी इतिहासकार ने यह नहीं लिखा है कि इस युद्ध में सलीम सेनापति था । न तो अबुलफजल और न ही बदायूँनी ने

इसका समर्थन किया है जबकि बदायूनी इस युद्ध में स्वयं उपस्थित था । उदयपुर में जगदीश मन्दिर के शिलालेख से भी यही पुष्टि होती है कि महाराणा प्रताप के विरुद्ध मुगल आक्रमण का सेनापति मानसिंह ही था । सबसे बड़ी बात यह कि सलीम का जन्म 30 अगस्त 1569 को हुआ था, अर्थात् इस युद्ध के समय उनकी अवस्था लगभग सात वर्ष थी । अतः सात वर्ष के बालक को सेनापति बनाना हास्यास्पद ही कहा जाएगा । अबुलफजल ने लिखा है-

“राजा मानसिंह जो अकबर के दरबार में अपनी बुद्धिमत्ता, स्वामीभक्ति और साहस में अग्रणी था और जिसे अन्य पदों के साथ फर्जन्द का उच्च पद प्रदान किया गया था, महाराणा प्रताप के विरुद्ध लड़ने के लिए चुना गया ।” अन्य इतिहासकारों ने भी ऐसा ही वर्णन किया है ।

मानसिंह को सेनापति बनाने का औचित्य

मानसिंह को सेनापति बनाने के पीछे कई कारण थे । वह एक वीर, बुद्धिमान, स्वामिभक्त तथा योग्य सेनापति था । वह मुगल सम्राट के योग्यतम सेनापतियों में एक माना जाता था । अकबर का उस पर विशेष स्नेह था । इसी स्नेह और विश्वास के कारण अकबर ने उसे फर्जन्द (पुत्र) की पदवी दी थी । महाराणा कुम्भा ने आमेर के शासक मेवाड़ के दरबार की सेवा में थे । भगवानदास स्वयं उदयसिंह के दरबार में रह चुका था, किन्तु बाद में उसने अकबर की सेवा करना स्वीकार कर लिया था । इसलिए महाराणा प्रताप मानसिंह को अपने एक बागी जागीरदार से अधिक महत्व नहीं देते थे । अतः समझा गया कि अपने बागी जागीरदार को रणभूमि में देखकर महाराणा अपना विवेक खो देंगे तथा मारने पर उतर आएंगे । इस प्रकार उन्हें अनायास ही युद्धभूमि में मार दिया जाएगा ।

एक अन्य कारण यह भी था कि मानसिंह और उसके पिता भगवानदास महाराणा के पास अकबर का सन्धि प्रस्ताव लेकर गये थे, जिन्हें प्रताप ने अस्वीकार कर दिया था । अनुमान लगाया गया है कि स्वाभाविक रूप में मानसिंह के मन में प्रताप के प्रति प्रबल विरोध की भावना होगी । अतः मानसिंह महाराणा का दमन करने के लिए पूरी शक्ति से लड़ेगा । मानसिंह राजपूत था, अतः उसे सेनापति के रूप में देखकर ही मुगल सेना के राजपूत महाराणा के विरुद्ध लड़ सकते थे । मेवाड़ राजघराने के प्रति राजपूतों के हृदय में अपार श्रद्धा थी । अधिकतर राजपूत शासक मेवाड़ के अधीन रह चुके थे । फलतः अब भी मुगल पक्ष के राजपूत महाराणा के विरुद्ध लड़ने में संकोच कर रहे थे । मानसिंह को इस युद्ध में सेनापति बनाकर अकबर राजपूतों के इस संकोच को दूर करना चाहता था ।

अकबर परिस्थितियों को अच्छी तरह समझता था । इसीलिए इस समय की परिस्थितियों पर नियन्त्रण रखने के लिए उसने मानसिंह को सेनापति बनाया । इसके साथ ही उसने बड़ी चतुरता से काम लिया । वह जानता था कि एक राजपूत दूसरे राजपूत से चाहे कितना ही लड़े, किन्तु विधर्मी मुगल साम्राज्य से लड़ते समय उसे महाराणा प्रताप से सहानुभूति हो सकती है । इस बात को ध्यान में रखकर उसने मानसिंह के साथ अन्य सेनापतियों के रूप में आसफ खां, मीर बक्शी, सैयद हमीम बरहा, सैयद अशमद खां, मिहतर खां, ख्वाजा मुहम्मद रफी, महाबले खान, मुजाहिद

खान आदि मुसलमानों को भेजा ।

मानसिंह का मेवाड़ □ प्रस्थान

3 अप्रैल 1576 को मानसिंह सेना लेकर मेवाड़ विजय के लिए चल पड़ा । कुछ ही दिनों बाद वह माण्डलगढ़ पहुंचा, जहां वह प्रायः दो माह तक रुका, क्योंकि शेष सेना को भी यहां आकर उसके साथ चलना था । इसके साथ ही महाराणा द्वारा खाली कराई गई बस्तियों में सैनिक-चौकियां भी स्थापित करनी थी । इसके पीछे एक कारण और भी हो सकता है; संभवतः मानसिंह ने यह सोचा हो कि इतनी अवधि तक माण्डलगढ़ में रुके रहने से मेवाड़ की सेना खीजकर उत्तेजित हो जाए और वही मुगल सेना पर आक्रमण कर दे । ऐसा होने पर उसे अनायास सफलता मिलने की सम्भावना थी । कुछ लेखकों ने इसका कारण बताते हुए लिखा है कि मानसिंह महाराणा को सन्धि का एक अवसर और देना चाहता था, किन्तु समस्त वृत्तान्त को देखते हुए यह सम्भावना सत्य नहीं जान पड़ती ।

दो महीनों तक माण्डलगढ़ में रहने के बाद अपने सैन्य बल में अभिवृद्धि कर मानसिंह खमणोर गांव के पास पहुंचा । इसके बाद गोलेला गांव में उसने अपनी विशाल सेना का पड़ाव डाला । यह गांव बनास नदी के दूसरे छोर पर है । इससे केवल दस मील की दूरी पर महाराणा का सैन्य शिविर भी था । यहां पड़ाव डालने के बाद मानसिंह ने सेना के शिविर लगवाए तथा खाद्य सामग्री की व्यवस्था ठीक करने में जुट गया । समस्त व्यवस्था हो जाने के बाद वह युद्ध की रूपरेखा बनाने लगा ।

महाराणा की तैयारियां

अकबर जैसे बलशाली शत्रु की सेना का सामना करना कोई सरल कार्य न था, किन्तु प्रताप इसका सामना करने के लिए तैयार थे । उन्हें मानसिंह की समस्त गतिविधियों की सूचना यथा समय प्राप्त हो रही थी । वह युद्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे । वह गोगूदा पहुंच गए । उन्होंने अपने अधीन मेवाड़ के मैदानी भागों को उजाड़कर वीरान कर दिया, ताकि शत्रुओं को भोजन, घास, आश्रय अथवा कोई भी अन्य पदार्थ न मिल सके । जिस स्थान पर भावी युद्ध होना था, वहां उन्होंने छापा मार युद्ध की भी सुन्दर व्यवस्था कर ली । मेवाड़ के सैनिकों को घाटी के चौड़े और तंग भागों में नियुक्त कर दिया गया । इन सैनिकों की स्थिति इतनी सुरक्षित थी कि उनके समीप पहुंचने के लिए शत्रु के सैनिकों को क्रम से एक-एक कर जाना पड़ता तथा लगभग डेढ़ मील का रास्ता पार करना पड़ता । यह मार्ग इतना सकल था कि इससे दो सैनिक एक साथ नहीं निकल सकते थे और एक घोड़े को भी इससे कठिनाई से ले जाया जा सकता था । कहीं-कहीं तो मार्ग इतना संकीर्ण था कि अकेले व्यक्ति को भी बड़ी ही सावधानी से आगे बढ़ना पड़ता था । समस्त घाटी पहाड़ियों से इस प्रकार घिरी थी कि शत्रु का उसमें एक बार घूमने का अर्थ अपने प्राणों की बाजी लगाना था । थोड़े से सैनिक भी यहां रहकर विशाल शत्रु सेना का सामना कर सकते थे । मेवाड़ के सैनिक इन दुर्गम मार्गों से अच्छी तरह परिचित थे, अतः कोई भी संकट आ पड़ने पर वे

सरलता से सुरक्षित स्थानों पर जा सकते थे ।

मुगलों की सेना के लिए इन स्थानों पर जाना अत्यन्त कठिन था । वे मैदानी भागों में तो वीरता से लड़ सकते थे, किन्तु इन घाटियों में लड़ना उनके लिए असम्भव जैसा था । स्थानीय सैनिक भोजन न मिलने पर जंगली फल-मूल खाकर गुजारा कर सकते थे, किन्तु मुगल सैनिकों के लिए ऐसा कर पाना भी सम्भव नहीं था । युद्ध के लिए प्राकृतिक रूप में सर्वथा उपयुक्त वह स्थान नाथद्वारा से ग्यारह मील दूर दक्षिण-पश्चिम में है गोगून्दा और खमणौर के बीच वे दुर्गम पहाड़ियां हैं । इन्हीं में एक अत्यन्त संकीर्ण मार्ग वाली घाटी का नाम हल्दी घाटी है । यहां हल्दी के समान रंग वाली पीली मिट्टी पायी जाती है इसीलिए इसका नाम हल्दीघाटी है ।

प्रारम्भ में महाराणा प्रताप माण्डलगढ़ जाकर ही मानसिंह का सामना करना चाहते थे, किन्तु मानसिंह की सशक्त स्थिति को देखकर मेवाड़ के सामन्तों ने उन्हें ऐसा न करने का परामर्श दिया और युद्ध के लिए हल्दीघाटी का चयन किया, जिसे प्रताप ने स्वीकार कर लिया ।

प्रताप की सेना में उस समय ग्वालियर का रामसिंह तंवर (अपने सभी पुत्रों के साथ) कृष्णदास आवत, रामदास राठौड़ झाला, मानसिंह रावत, पुरोहित गोपीनाथ, शंकरदास, चारण जैसा, पुरोहित जगन्नाथ, केशव, हकीम खां सूर आदि मुख्य सेनापति थे ।

दोनों पक्षों के पास कितनी-कितनी सेना थी, इस विषय में विभिन्न पुस्तकों में अलग-अलग वर्णन मिलता है । मेवाड़ के ख्यातों के अनुसार मानसिंह की सेना में 80 हजार तथा प्रताप की सेना में बीस हजार सवार थे । नैनसी के अनुसार मानसिंह के पास 40 हजार तथा महाराणा के पास नौ-दस हजार सैनिक थे । टाँड ने लिखा है कि महाराणा प्रताप बाईस हजार राजपूतों को लेकर युद्धभूमि में गये, जिनमें से 8 हजार ही जीवित बचे, शेष 14 हजार वीरगति को प्राप्त हो गये । कुछ अन्य लेखकों के अनुसार प्रताप की सेना में लगभग तीन हजार घुड़सवार, दो हजार पैदल, एक सौ हाथी तथा एक सौ भाले, नगारची, तुरही आदि बजाने वाले थे ।

अनेक आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि ये संख्याएं अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर लिखी गई हैं । समकालीन मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार मानसिंह के पास केवल पांच हजार सैनिक थे और महाराणा की सैनिक संख्या तीन हजार थी । डॉ. शर्मा अपने नवीन शोधों के अनुसार महाराणा के पास 3 हजार अश्वारोही, 2 हजार पैदल, एक सौ हाथी तथा कुछ अन्य सैनिक सिद्ध करते हैं । अधिकतर विद्वानों का मत है कि महाराणा की सैनिक संख्या केवल तीन हजार थी । इसके अतिरिक्त भीलों की भी कुछ सेना थी ।

युद्ध प्रारम्भ होने से एक दिन पूर्व महाराणा प्रताप के गुप्तचरों ने उन्हें सूचना दी कि मानसिंह अपने कुछ गिने-चुने सैनिकों को लेकर शिकार के लिए गया है । यह समाचार मिलने पर उनके कुछ सामन्तों ने परामर्श दिया कि इस अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए; और उसका काम तमाम कर देना चाहिए, किन्तु महाराणा प्रताप ने राजपूतों की परम्पराओं का हवाला देते हुए धोखे से शत्रु को मारना अस्वीकार कर दिया ।

शत्रु के प्रति यह आदर्शवाद की भावना कोई नई बात नहीं थी । इसी भावना के कारण भारतीय

इतिहास के अनेक वीर पुरुषों को कई बार पराजय का मुंह देखना पड़ा तथा प्राणों से हाथ धोने पड़े। भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही युद्ध में किसी प्रकार के आदर्श को अनुचित बताया गया है। वेदों में भी पर्वतों में छिपकर सोए हुए शम्बर को इन्द्र द्वारा मार दिए जाने का वर्णन मिलता है और भगवान कृष्ण ने भी युद्ध में किसी प्रकार के आदर्श को स्थान नहीं दिया।

कुछ अन्य पुस्तकों में लिखा है कि मानसिंह की हत्या न करने का यह परामर्श बीदा झाला ने दिया था। जैसा नैनसी ने लिखा है कि मानसिंह को महाराणा प्रताप के खमणौर आने का पता नहीं लग सका। ऐसी स्थिति में महाराणा प्रताप चाहते तो रात्रि में अकस्मात धावा बोलकर राजा मानसिंह की हत्या कर देते और भाग खड़े होते।

इस प्रस्ताव का विरोध चाहे प्रताप ने किया हो या झाला ने, किन्तु ऐसा करना एक भयंकर भूल ही कही जाएगी। यदि मानसिंह की हत्या कर दी जाती तो संभवतः मेवाड़ का इतिहास ही कुछ और होता। छत्रपति शिवाजी की महान सफलताओं के पीछे एक कारण यह भी था कि उन्होंने युद्ध में इस प्रकार के आत्मघाती आदर्श को कोई स्थान नहीं दिया।

मुगल सेना से सामना

युद्ध को कार्य रूप देने के लिए मुगल सेनापति मानसिंह ने खमणौर के निकर मोलेला गांव में शिविर लगाया। महाराणा के दूतों ने यह समाचार महाराणा तक पहुंचाया। प्रताप अपनी सेना को लेकर हल्दीघाटी के दूसरी ओर पहुंच गये। यह युद्ध जून 1576 के तृतीय सप्ताह (कुछ पुस्तकों के अनुसार 18 जून को तथा कुछ अन्य पुस्तकों के अनुसार 21 जून को) के अन्त में प्रातः लगभग 8 बजे से आरम्भ हुआ। युद्ध भूमि में प्रताप ने अपनी सेना को मेवाड़ की परम्परागत युद्ध शैली के अनुसार तैयार किया। इस शैली में युद्ध भूमि में सेना को हरावल, चन्द्रावल, दक्षिण पार्श्व में समायोजित किया जाता है। हरावल सेना के सबसे अगले भाग को कहा जाता है, चन्द्रावल सबसे पिछले भाग को वाम पार्श्व हरावल से कुछ पीछे बायीं ओर तथा दक्षिण पार्श्व इसी के बराबर दूरी में दाहिनी ओर के भाग को कहा जाता है। इन सबके बीच में राजा का स्थान होता है।

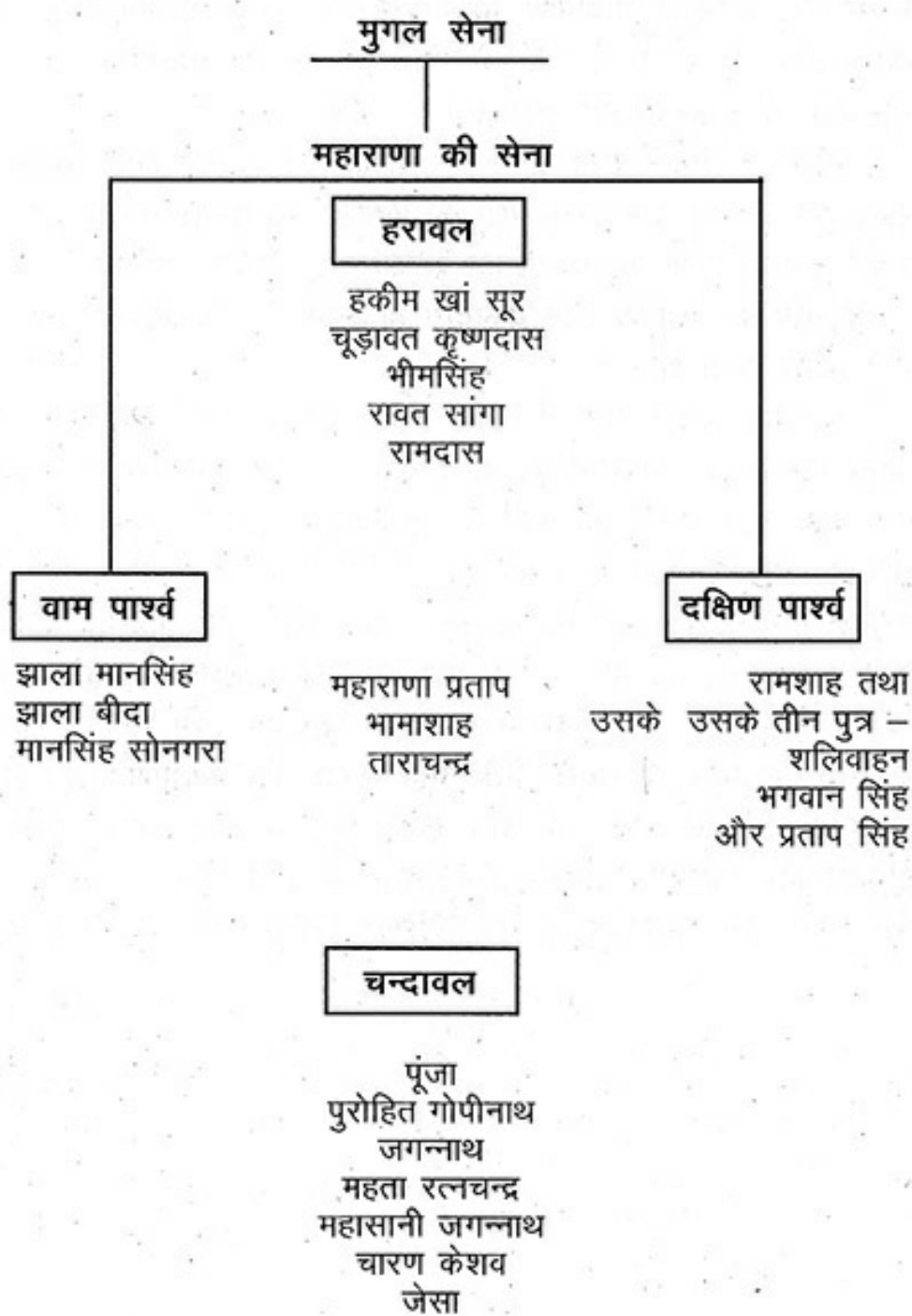
हरावल भाग का नेता हाकिम खां सूर था। उसके सहयोगी के रूप में मेवाड़ के चुने हुए सामन्त थे, जिनमें सलूम्बर का आवत कृष्णादास, सरदारगढ़ का भीमसिंह, देवगढ़ का रावत सौगा, जयमाल का पुत्र रामदास आदि मुख्य थे। दक्षिण पार्श्व में ग्वालियर का शासक रामशाह, उसके तीन पुत्र तथा अन्य वीर योद्धा थे। वाम पार्श्व का नेता झाला मानसिंह था, जिसके साथ झाला बीदा, मानसिंह, सोनगरा आदि सहयोगी थे। चन्द्रावल में पानरवा के पंजा का नेतृत्व था और उसके साथ अन्य सहयोगी के रूप में पुरोहित जगन्नाथ, गोपीनाथ, महता रलचन्द्र, महासानी जगन्नाथ, चारण केशव तथा जैसा थे। इन सबके केन्द्र में महाराणा प्रताप अपने मन्त्री भामाशाह तथा उसके भाई ताराचन्द के साथ थे।

भीलों की पैदल सेना अपने पारम्परिक तीर, कमान आदि शस्त्रों के साथ पूजा के नेतृत्व में

आस-पास की पहाड़ियों में तैनात थे । समस्त सेना अपने-अपने नेताओं के आदेशों की प्रतीक्षा कर रही थी । सभी वीरों के मन में मातृभूमि की रक्षा के लिए बलिदान हो जाने के भाव और महाराणा के प्रति अपार श्रद्धा थी ।

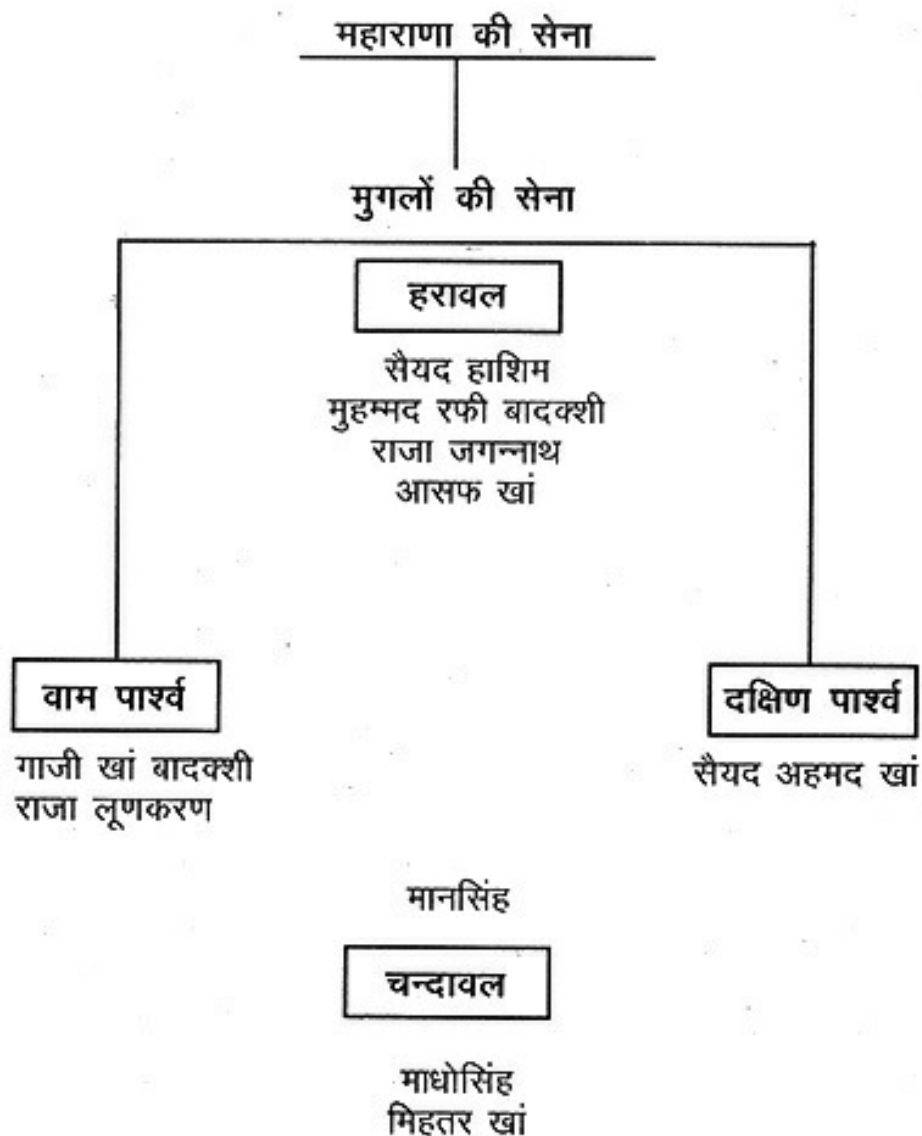
मानसिंह अपनी सेना के साथ हल्दीघाटी के ठीक नीचे कुछ चौड़े किन्तु ऊबड़-खाबड़ स्थान पर पहुंच गया । आजकल यह स्थान बादशाह बाग कहा जाता है । इसके एक ओर खमणौर तथा दूसरी ओर भागल का क्षेत्र है । मानसिंह की सेना की व्यूह रचना इस प्रकार थी-सबसे आगे हरावल भाग में सैयद हासिम का नेतृत्व था । उसके साथ मुहम्मद बादकशी रफी राजा जगन्नाथ और आसफ खां, थे । दक्षिण पार्श्व में सैयद अहमद खां का नेतृत्व था । वाम पार्श्व में गाजी खां, बादकशी तथा राजा लूणकरण थे तथा चन्द्रावल में सबसे पीछे मिहतर खां और माधोसिंह थे । मुख्य सेनापति मानसिंह हाथी पर बैठा हुआ केन्द्र में था । इसके साथ ही इतिहासकार बदायूनी भी इस युद्ध की घटनाओं को लिपिबद्ध करने के लिए आया था । उसे अंगरक्षकों के एक विशिष्ट दल के साथ रखा गया था ।

हल्दीघाटी में महाराणा की सेना की व्यूह रचना



दोनों सेनाएं युद्ध के लिए एक-दूसरे से कुछ ही दूरी पर खड़ी थीं। महाराणा प्रताप का अभिषेक होने के बाद मुगल सम्राट अकबर से उनका यह प्रथम युद्ध था।

मुगल सेना की व्यूह रचना



कुछ समय तक दोनों सेनाएं एक-दूसरे के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगी । 21 जून को प्रातः मेवाड़ का हाथी राजकीय ध्वजा को फहराता हुआ दर्रे से बाहर आया । सेना के सबसे आगे सेनापति सूर के दिखाई पड़ते ही राजपूतों की ओर से रणभेरी, तुरही आदि वाद्यों का उद्घोष होने लगा । सेनापति हकीम खां सूर के नेतृत्व में महाराणा का हरावल दस्ता शत्रुओं के हरावल दस्ते पर सिंह के समान टूट पड़ा । वह स्थान जहां दोनों ओर के हरावल दस्तों में घमासान युद्ध चल रहा था, अत्यधिक ऊबड़-खाबड़ था । मेवाड़ की सेना ऐसे स्थानों की अभ्यस्त थी, किन्तु मुगल सेना के लिए ऐसे स्थानों पर युद्ध करना कठिन था । अतः पहले ही हमले में मुगलों के पांव उखड़ने लगे और उनकी पराजय निश्चित दिखाई देने लगी ।

प्रथम सफलता से मेवाड़ के सैनिकों का उत्साह बढ़ गया । वे घाटी से निकलकर बादशाह बाग तक पहुंच गये । यह स्थान मुगल सेना के लिए भी अनुकूल था और यहां सेना युद्ध के लिए पूर्णतया तैयार थी । यह देखकर हकीम खां सूर और राणा कीका अपने सैनिकों के साथ मुगल

सेना के केन्द्रीय दल पर टूट पड़े। घमासान समर प्रारम्भ हो गया। दोनों पक्षों की सेनाएं पूरे उत्साह के साथ भिड़ गईं युद्ध क्षेत्र हताहतों की चीत्कारों हाथियों की चिघाड़ों, घोड़ों की हिनहिनाहटों तथा धनुषों की टंकार से गूंज उठा। मेवाड़ की सेना का मुगल सेना के वाम पार्श्व पर इतना भारी दबाव पड़ा कि उसका ठहर पाना कठिन हो गया। उसमें अव्यवस्था पैदा हो गई। ग्वालियर के पदच्युत नरेश रामशाह का शौर्य प्रदर्शन अद्भुत था। राजपूत सेना का दबाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। मुगलों की सेना के हरावल तथा वाम पार्श्व का ठहरना कठिन हो गया और ये दोनों दल युद्धभूमि से भाग खड़े हुए। इनमें गाजी खां, आसफ खां तथा मानसिंह के राजपूत सैनिक भी थे। कई मुगल सैनिक युद्धभूमि से दस-बारह मील दूर तक भाग गये।

राजपूतों की इस विजय से मुगल सेना का मनोबल घटने लगा ऐसा प्रतीत होने लगा कि मुगल सेना निश्चित ही हार जाएगी। बरहा के सैयद मुगल सेना की ओर से अभी तक वीरता के साथ लड़ रहे थे। अपनी सेना को भागते देख मुगल सेना के चन्द्रावल भाग में स्थित मिहतर खां आगे बढ़ा, उसने युक्ति से काम लेते हुए ऊंचे स्वर में अकबर के पहुंचने की झूठी घोषणा करते हुए कहा-“बादशाह सलामत स्वयं आ चुके हैं।” इस घोषणा से स्थिति पलट गई। भागती हुई मुगल सेना लौट पड़ी और नये जोशो खरोश के साथ युद्ध करने लगी।

पुनः नये उत्साह के साथ युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध करते-करते दोनों सेनाएं खमणोर तथा भागल के बीच बनास नदी के तट पर खून की तलाई नामक स्थान पर पहुंच गईं। यहां भी मेवाड़ की सेना ने अद्भुत वीरता का प्रदर्शन किया। उसके प्रहारों से मुगल सेना का महाविनाश होने लगा। वनवासी भीलों ने भी अपने पारस्परिक हथियारों से अपूर्व वीरता दिखाई। उनके दल पहाड़ियों से निकलकर मुगल सेना पर टूट पड़े। मुगल सेना ने मेवाड़ की सेना से वीरतापूर्वक अपनी रक्षा की। अभी तक महाराणा की सेना के दो वीर ग्वालियर का रामशाह तथा जयमाल का पुत्र रामदास वीरगति को प्राप्त हो गये थे।

राजपूतों के बढ़ते दबाव को देख मानसिंह भी युद्ध भूमि में उतर पड़ा। वह हाथी पर बैठकर युद्ध कर रहा था। राजपूत सैनिक उसका सामना करने लगे, तभी मुगल शाही हाथियों के दल का सेनापति हुसैन खां भी युद्ध करने के लिए आगे आ गया। महाराणा के हाथी सवार उनका सामना करने लगे। उनके एक हाथी पर शत्रुओं ने घात लगाकर हमला कर दिया। फलतः उसका महावत गम्भीर रूप से घायल हो गया और उस हाथी को मुगलों ने अपने अधिकार में ले लिया।

तत्कालीन युद्धों में हाथियों के युद्ध का विशेष महत्व था। हल्दीघाटी युद्ध में हाथियों की लड़ाई का विशेष वर्णन हुआ है। मानसिंह हाथी पर आरूढ़ था। उसने हाथियों की लड़ाई में अच्छे दांव-पेंच दिखाए। राजपूतों के लूना हाथी तथा मुगलों के गजमुख हाथी की परस्पर भिड़न्त हो गयी। लूना ने गजमुख को पराजित कर दिया। गजमुख को हारते देख मुगल सेना के किसी सैनिक ने लूना के महावत पर हमला कर दिया। फलतः महावत घायल हो गया। गजमुख वापस लौट गया था। लूना भी अपने घायल महावत तो लेकर वापस लौट गया।

महाराणा की सेना में रामप्रसाद नाम का एक अत्यन्त कुशल और प्रशिक्षित हाथी था। सम्राट अकबर भी इस हाथी की प्रशंसा सुन चुका था। कहा जाता है कि उसने कई बार महाराणा से यह

हाथी मांगा भी था । लूना के लौट पड़ने पर राजपूतों को रामप्रसाद को युद्धभूमि में उतारना पड़ा । इसे रामशाह का पुत्र प्रतापसिंह तंवर संचालित कर रहा था । युद्धभूमि में उतरते ही रामप्रसाद ने मुगल सेना में खलबली मचा दी । उसने मुगलों की सेना को रौंदना आरम्भ कर दिया । अपने सैनिकों का विनाश देखकर मुगल सेना आतंकित होने लगी । रामप्रसाद का सामना मुगल सेना का हाथी गजराज कर रहा था, जिसका संचालक कमलखान था । रामप्रसाद के समक्ष गजराज फीका पड़ गया । यह देख मुगल सेना ने अपना एक अन्य हाथी रणमन्दर भी मैदान में उतार दिया । अब मुगलों के दो हाथी रामप्रसाद का सामना करने लगे । रामप्रसाद इन दोनों से जूझ रहा था । वस्तुतः मुगल यही चाहते थे । उन्होंने रामप्रसाद के महावत पर तीरों की वर्षा कर दी, जिससे महावत मारा गया । इसे अच्छा अवसर देख दोनों मुगल हाथियों को रामप्रसाद से भिड़ा दिया गया और उसे फंसा लिया । रामप्रसाद पर मुगलों की आंखें कई दिनों से गड़ी थी । अतः वे उसे फंसाकर अपनी सेना में ले गये ।

महाराणा प्रताप की युद्धभूमि में प्रारम्भ से ही तीव्र हार्दिक इच्छा थी कि मानसिंह से सीधा सामना हो, किन्तु उन्हें यह अवसर नहीं मिल पा रहा था । इधर हाथियों के युद्ध में मानसिंह के आगे आ जाने पर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई । उन्हें इसी की प्रतीक्षा थी । वह सीधे मानसिंह के सामने चले गए । दोनों एक दूसरे पर अपने दांव लगाने लगे । महाराणा ने अपने घोड़े चेतक को संकेत किया । चेतक ने अपने अगले पांव मानसिंह के हाथी की सूंड पर रख दिए । महाराणा ने भाले से वार किया, किन्तु मानसिंह अपने हाथी के हौदे में घुस गया । प्रताप का भाला उसके कवच में घुस पड़ा, जिससे उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि मानसिंह मर गया है । मानसिंह का महावत घायल हो गया और नीचे गिर पड़ा ।

इस घटना का अनेक इतिहासकार ने वर्णन किया है, किन्तु युद्धभूमि में उपस्थित होते हुए बदायूँनी इस घटना को छोड़ गया है । वह एक कट्टर मुसलमान था । उसने प्रताप पर तीरों की वर्षा का तो अतिरंजित वर्णन किया है, किन्तु इस घटना का नहीं अतः उसका वर्णन पक्षपातपूर्ण माना जा सकता है । राजपूत स्रोत इस घटना का बढ़ा-चढ़ कर वर्णन करते हैं । अबुलफजल ने भी महाराणा और मानसिंह के परस्पर युद्ध का वर्णन किया है । जो भी हो इतना निश्चित है कि महाराणा प्रताप ने मानसिंह का सीधे सामना अवश्य किया था, जिसमें उनका पलड़ा भारी रहा ।

मानसिंह के हाथी की सूंड पर पैर रखते समय महाराणा के चेतक का पैर कट गया था, क्योंकि सूंड में तलवार लटक रही थी । इस विकट स्थिति में प्रताप शत्रुओं के सैनिकों से घिर गए । स्थिति की भयंकरता को देखकर झाला मानसिंह ने अपूर्व वीरता का प्रदर्शन कर महाराणा के प्राणों की रक्षा की । उसने प्रताप का राजछत्र स्वयं ले लिया तथा प्रताप से युद्धभूमि से चले जाने को आग्रह किया । झाला पर राजचिह्न देखकर मुगल सेना ने उसे ही महाराणा समझा और घेर लिया झाला अत्यन्त वीरता के साथ शत्रुओं का संहार करने लगा । आखिर घिरा हुआ अकेला झाला कब तक इतने शत्रुओं का सामना करता । लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो गया और प्रताप वहां से सुरक्षित बच निकले ।

घायल होते हुए भी चेतक उन्हें युद्धभूमि से लगभग दो मील दूर बालिया गांव तक ले गया,

जहां उसने दम तोड़ दिया । अपने इस प्रिय घोड़े की याद में महाराणा ने उस स्थान पर उसका स्मारक बनवाया, जहां उसकी मृत्यु हुई थी । उसके स्मारक पर एक पुजारी की भी नियुक्ति की गयी, जिसे कुछ भूमि दान स्वरूप दी गयी । यह स्मारक जीर्ण-शीर्ण अवस्था में अभी तक विद्यमान है ।

प्रताप शक्तिसिंह मिलन

महाराणा प्रताप का छोटा भाई शक्तिसिंह अपने पिता के समय ही अकबर की सेवा में चला गया था । इस युद्ध में वह मुगल सेना की ओर से लड़ रहा था । इधर जब महाराणा युद्धभूमि से बच निकले, तो दो मुगल सैनिकों ने उन्हें पहचान लिया । दोनों प्रताप का पीछा करने लगे । शक्तिसिंह ने उन्हें पीछा करते देख लिया । भाई पर आए संकट को देखकर वह चुप न बैठ सका और स्वयं भी उन दोनों के पीछे हो लिया । कुछ आगे निकलते ही उसने दोनों सैनिकों को मार डाला । इसके बाद वह प्रताप से मिला । चेतक मर चुका था । महाराणा पर फिर कोई संकट न आ पड़े, इसलिए उसने अपना घोड़ा उन्हें दे दिया । मुगल सेना में वापस आने पर उसने कह दिया कि प्रताप ने दोनों सैनिकों तथा उसके घोड़े को मार डाला ।

कहा जाता है कि भागते हुए महाराणा का पीछा मुगल सेना ने इसलिए नहीं किया कि मानसिंह नहीं चाहता था कि प्रताप को बन्दी बनाकर अकबर के समक्ष लाया जाए और महाराणा प्रताप की सहायता के लिए शक्तिसिंह को भी उसी ने भेजा था । मुगल सेना जीत के बाद पराजित सेना का पीछा करती थी तथा लूट मचाती थी । यहां ऐसा भी, कुछ नहीं हुआ । इस सबके पीछे मानसिंह का ही हाथ बताया जाता है । इस विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए श्री राजेन्द्र बीड़ा ने लिखा है-

“हल्दीघाटी में विजय के बाद मुगलों द्वारा भागते हुए राणा प्रताप का पीछा नहीं किया गया । दो मनचले मुसलमानों ने पीछा किया । यह बात मानसिंह को अच्छी नहीं लगी । उसने शक्तिसिंह को प्रताप के बचाव के लिए भेजा । इस सन्दर्भ में मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है । कहीं स्पष्ट रूप से लिखा नहीं गया है ।”

युद्ध का परिणाम

हल्दीघाटी की यह लड़ाई प्रातः आठ बजे से दोपहर तक चलती रही । ऊपर लिखा जा चुका है कि पहले मेवाड़ का पलड़ा भारी रहा । किन्तु बाद में मुगलों की स्थिति संभल गयी । महाराणा के युद्ध-स्थल से चले जाने पर उनकी सेना में अव्यवस्था फैल गयी । झाला मानसिंह, राठौड़ शंकरदास, रावत नेतसी आदि ने कुछ समय तक वीरता के साथ मुगल सेना का सामना किया, किन्तु मानसिंह के अंगरक्षकों के हमले के कारण उन्हें पीछे हटा पड़ा । दोपहर तक मेवाड़ की सेना के पांच उखड़ गये । मुगल सेना ने अपना दबाव बनाए रखा । परिणामस्वरूप अनेक राजपूत सैनिक वीरगति को प्राप्त हो गए । अन्त में मुगल सेना जीत गई ।

यद्यपि युद्ध में किसकी विजय हुई इसमें विवाद है, फिर भी अधिकांश विद्वान इसी पक्ष में हैं कि मुगलों की ही जीत हुई। जहां मुसलमान इतिहासकारों ने मुगलों की जीत का उल्लेख किया है, वहीं कुछ लोगों ने महाराणा के जीतने का समर्थन किया है। बदायूनी ने मुगलों की विजय होना लिखा है। वह स्वयं इस विजय का समाचार लेकर अकबर के पास गया था, किन्तु मार्ग में जिसे भी वह मुगलों की जीत का समाचार देता, उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता था। दोनों पक्षों द्वारा अपनी-अपनी विजय बताने का यह अर्थ भी हो सकता है कि इस युद्ध में मुगल पक्ष को उनके वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। अकबर की ओर से कठोर आदेश था कि प्रताप को पकड़ लिया जाए। इस युद्ध में न तो प्रताप पकड़े जा सके न मेवाड़ पर ही अधिकार हुआ। यह कोई निर्णयात्मक युद्ध नहीं था। इस दृष्टि से इसे प्रताप की पराजय भी नहीं कहा जा सकता। हां, यह उनकी शक्ति के लिए एक आघात अवश्य था।

इस युद्ध में मुगल सेना को भी भारी क्षति हुई थी। संभवतः उसमें महाराणा का पीछा करने की सामर्थ्य भी नहीं रही थी। इस युद्ध में वांछित सफलता न मिलने पर अकबर क्षुब्ध हो उठा। उसने इसका दोषी मानसिंह को माना, क्योंकि वही इस युद्ध का सेनापति था इसलिए अकबर ने उसके दरबार में प्रवेश पर छः महीने के लिए रोक लगा दी थी। युद्ध को इसी अनिर्णयात्मक की ओर संकेत करते हुए डॉ. श्रीवास्तव ने लिखा है-

“हल्दीघाटी की विजय जितनी: कठिनाई से मिली, उतनी ही निरर्थक रही। मानसिंह अपने अभियान के मुख्य लक्ष्य में असफल रहा। अर्थात् राणा प्रताप न मारा जा सका, न पकड़ा जा सका और न ही मेवाड़ को आधीन बनाया जा सका। इस युद्ध से राणा की शक्ति खण्डित नहीं हुई। इससे उन्हें धक्का भर लगा। कई दृष्टियों से यह युद्ध एक तरह से वरदान सिद्ध हुआ। हताश करने के बजाय उसने राणा के संकल्प को और भी दृढ़ बना दिया। संसार के सबसे शक्तिशाली और सम्पन्न सम्राट का उसके सैनिकों ने जिस वीरता से सामना किया, उसने अपनी शक्ति में उसकी आस्था और भी बढ़ गई। और संग्राम को जारी रखने का उसका निश्चय और भी पक्का हो गया। 21 जून 1576 का युद्ध इससे पहले और इसके बाद के प्रताप की नीतियों एवं कार्यों को विभाजित करने वाली रेखा है। इस युद्ध के मूल्यवान अनुभवों के बाद मेवाड़ के मुगल अधीन क्षेत्रों को फिर से प्राप्त करने के कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप दिया जाने लगा। प्रताप ने निश्चय किया कि वह भविष्य में अपने से अधिक संख्या वाली शत्रु सेना पर खुले मैदान में सामने से आक्रमण नहीं करेगा।”

हताहतों की संख्या

हल्दीघाटी का युद्ध केवल पांच-छः घण्टों तक चला। इसमें मुगल तथा मेवाड़ दोनों पक्षों के अनेक सैनिक योद्धा मारे गए। मेवाड़ पक्ष के वीरगति प्राप्त करने वाले सैनिकों में जयमल का पुत्र राठौर रामदास, सामन्त झाला, रामशाह तथा उसका पुत्र शालिवाहन आदि मुख्य हैं। तंवर वंश के जितने भी वीर मेवाड़ की ओर से लड़ रहे थे, उसमें से कोई भी नहीं बचा। दोनों ओर से कुल कितने सैनिकों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े, इस विषय में इतिहास की पुस्तकों में भिन्न-

भिन्न मत हैं। 'तबकाते अकबरी' के अनुसार मुगल सेना के 380 हिन्दू तथा 120 मुसलमान मारे गए और 300 से अधिक मुसलमान घायल हुए। अबुलफजल के अनुसार 150 मुगल सैनिक तथा 500 मेवाड़ के सैनिकों की मृत्यु हुई। इकबाल नाम के लेखक ने लिखा है कि मुगल पक्ष के केवल 50 तथा महाराणा के 500 सैनिकों ने प्राणों से हाथ धोए। इकबालनाम में दिया गया यह वर्णन भी सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मुगलों के केवल 50 सैनिकों के मारे जाने की बात अस्वाभाविक जैसी लगती है। वीर विनोद आदि राजपूत स्रोतों के अनुसार मेवाड़ के 20000 तथा मुगलों के असंख्य सैनिक मारे गए। यह वर्णन भी पक्षपात युक्त तथा अतिशयोक्ति पूर्ण मालूम होता है।

शक्तिसिंह से मिलने के बाद महाराणा प्रताप शाम को कोल्यारी गांव पहुंचे युद्ध समाप्त हो जाने पर सभी घायल राजपूत सैनिकों को भी वहीं लाया गया। वहां सभी घायलों के पूर्ण उपचार की व्यवस्था की गई।

महाराणा की हार के कारण

यद्यपि राजपूतों में वीरता, उत्साह आदि सैनिकोचित गुणों की कोई कमी नहीं थी, फिर भी मेवाड़ की पराजय क्यों हुई? इसका कारण जानने के लिए महाराणा की युद्धनीति, तत्कालीन परिस्थितियों आदि का विश्लेषण करना अनिवार्य हो जाता है। अभिषेक के बाद प्रताप का मुगल सम्राट से यह प्रथम युद्ध था। यद्यपि वह अपने पिता उदयसिंह के समय युद्धों में भाग ले चुके थे, फिर भी उस समय वह एक राजकुमार ही थे। साथ ही उदयसिंह के समय जब मुगलों का मेवाड़ पर आक्रमण हुआ भी, तो उस समय पूरा राजपरिवार वनों में सुरक्षित स्थानों पर भेज दिया गया था। अतः उन्हें इस प्रकार के युद्धों का पूर्व अनुभव नहीं था। हल्दीघाटी युद्ध में वह परम्परागत शैली से लड़े थे। यह उनकी पराजय का सबसे बड़ा कारण था। महाराणा प्रताप को अपनी समस्त सेना को एक स्थान पर नहीं लाना चाहिए था। जिस दर्रे के मुंह पर पहले राजपूतों का पलड़ा भारी था, वहां से आगे बढ़ना भी उनके लिए घातक सिद्ध हुआ वह स्थान उबड़-खाबड़ होने से मुगल सेना के लिए कष्टप्रद था। अतः उसी स्थान पर शत्रु पक्ष को उलझाए रखना मेवाड़ के हित में था। महाराणा अपनी सेना को घाटी के विभिन्न दर्रों तथा पहाड़ियों में छितरा देते। इसके बाद विरोधी सेना आगे बढ़ती और घिर जाती। फिर उसे सरलता से समाप्त किया जा सकता था। महाराणा के सैनिक आरम्भ में ही मुगल सेना पर टूट पड़े। इससे वह शीघ्र ही थक गए। मुगल सैनिक पूरे अनुशासन से लड़े, जबकि प्रताप के बच निकलने पर मेवाड़ की सेना में अव्यवस्था फैल गई। इस सब के साथ ही महाराणा की सेना की तुलना में शत्रुसेना का अधिक होना भी इस पराजय का एक कारण था। समस्त कारणों पर प्रकाश डालते हुए डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है-

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि परम्परागत युद्ध शैली के कारण उसे हारना पड़ा। प्रथम तो उसका घाटी के का भाग में अपने सैनिकों के विभिन्न भागों में बांटकर जमाना उचित नहीं था। सबसे उपयुक्त ढंग यही हो सकता था कि वह अपनी सेना की टुकड़ियों को घाटियों दर्रों और पहाड़ियों में

इस प्रकार बिखरे हुए रखता कि शत्रु घाटी में ही घिर जाते और वहां से उनका निकलना सर्वनाश अथवा मौत ही सिद्ध होता । दूसरा ज्यों ही मुगलों का अग्रनामी दल पीछे हटा, राणा ने अपनी सम्पूर्ण सेना को आरम्भ में ही युद्ध में धकेलकर थका दिया । तीसरा, मुगलों से दूसरी बार मुठभेड़ करते समय राजपूतों में व्यवस्था न रह सकी, परन्तु इसके विपरीत मुगलों ने पूर्ण अनुशासन से युद्ध किया । शत्रुओं का बहुसंख्यक होना और उनका राजपूतों से डटकर मुकाबला करना भी राणा तथा उनके साथियों के पीछे हटने का कारण बना । तथापि प्रताप ने संकटकाल में शान्त मनोवृत्ति एवं सूझ-बूझ से युद्ध-स्थल से निकलकर अपने आप को ऐसा बचा कर मारे जाने की संभावना को टाल दिया । यह उसका एक महत्वपूर्ण कदम था । यहां से निकलकर उसने अपने देश की रक्षा के कार्य में सक्रिय भाग लिया, जो उसके नष्ट हो जाने से सर्वथा श्रेष्ठ था ।”

निश्चय ही युद्ध-भूमि से निकलकर अपने का बचा लेना महाराणा का प्रशंसनीय कार्य था । यदि वह जूझते हुए मारे जाते, तो मेवाड़ का इतिहास उस गौरव का अधिकारी नहीं हो पाता, जो उसके उनके जीवित रहने पर प्राप्त हुआ । इसकी तुलना में हल्दीघाटी की पराजय एक तुच्छ घटना थी । और इसे पराजय कहें ही क्यों, यह तो मेवाड़ के गरिमामय इतिहास के एक सुनहरे अध्याय का बीजमात्र था, एक लम्बे संघर्ष की आधारशिला थी ।

पंचम अध्याय

घात-प्रतिघात

मानसिंह का गोगूदा पर अधिकार

प्रताप का सुरक्षित बच निकलना मेवाड़ के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी । कोल्यारी में घायलों की चिकित्सा की व्यवस्था कर प्रताप शीघ्र ही गोगूदा होते हुए मझोरा पहुंचे । वहां उन्होंने भीलों को एकत्रित कर एक नयी सेना बनाई । महाराणा के गोगूदा के निकट होने की सूचना मानसिंह को मिल गई । इसे उसने भावी खतरे का संकेत समझा । अतः वह तुरन्त ही सेना लेकर गोगूदा की ओर चल पड़ा और हल्दीघाटी युद्ध के तीसरे ही दिन 23 जून 1576 को उसने गोगूदा पर अपना अधिकार कर लिया ।

गोगूदा में मुगल सेना की स्थिति

गोगूदा मुगल सेना के लिए दुःखद ही सिद्ध हुआ । उस पर्वतीय क्षेत्र में न तो अनाज पैदा होता था और न वहां व्यापारी या बन्जारे ही जाते थे । मुगल सेना के लिए खाद्य सामग्री की विकट समस्या उत्पन्न हो गई । उसे कई दिनों तक आमों तथा मांस पर ही निर्भर रहना पड़ा । आम वहां बहुतायत उत्पन्न होते थे । भूख से व्याकुल सेना इन्हीं से अपना पेट भरने लगी । फलतः कई सैनिक बीमार पड़ गये । अतः बाहर से खाद्य सामग्री लाने के लिए आदमी भेजे गये । उन्हें यह भी आदेश दिया गया कि यदि कहीं भी पहाड़ियों में कुछ आदमी एक साथ मिलें, तो उन्हें बन्दी बना लिया जाये ।

इसके साथ ही मुगल सेना इस बात से सदा आशंकित रहती थी कि न मालूम प्रताप कब हमला कर दें संक्षेप में कहा जा सकता है कि शाही सेना यहां एक बन्दी के समान जीवन बिता रही थी । श्री ओझा जी ने इस विषय में लिखा है-

“गोगूदा पहुंचने पर भी शाही अफसरों को यही भय बना रहा कि प्रताप उन पर टूट न पड़े । शाही सेना गोगूदे में कैदी की भांति रही और अन्न तक न ला सकी, जिससे उसकी और भी दुर्दशा हुई ।”

इसी भय के कारण मानसिंह ने पूरे गोगूदा की एक कृत्रिम किलेबन्दी जैसी कर दी । चारों ओर खाई खुदवाकर ऊंची दीवार बना दी गई, जिससे कोई उसे फांदकर अन्दर न पहुंच सके । उसका वर्णन करते हुए निजामुद्दीन अहमद बक्शी ने लिखा है-

“अमीरों को डर था कि कहीं राणा रात्रि के समय उन पर न टूट पड़े । इसलिए अपने बचाव के लिए उन्होंने सभी मुहल्लों में बाड़ खड़ी करवा दी और गांव के चारों ओर खाई खुदवाकर इतनी ऊंची दीवार बनवा दी कि घुड़सवार भी उसे न फांद सकें । इसके बाद ही वे निश्चिन्त हो सकें । इसके बाद वे मृत व्यक्तियों तथा घोड़ों की सूची बनाने लगे, तो शैयद अहमद खां बारहा ने कहा-ऐसी सूची बनाने से क्या लाभ । आवश्यकता तो भोजन का प्रबन्ध करने की है ।

बदायूँनी का अकबर के पास जाना

अकबर युद्ध के समाचारों की तीव्रता से प्रतीक्षा कर रहा था । उसने महमूद खां को युद्ध के समाचार लाने के लिए गोगूँदा भेजा । गोगूँदा से लौटकर उसने युद्ध का समस्त वृत्तान्त अकबर को सुनाया । हल्दीघाटी की जीत से अकबर को प्रसन्नता हुई, किन्तु महाराणा के बच निकलने के समाचार से वह अत्यन्त खिन्न हुआ ।

मेवाड़ की सेना से जीता गया रामप्रसाद हाथी अकबर के लिए अत्यन्त महत्व रखता था, जिसे वह कई बार प्रताप से मांग भी चुका था, किन्तु महाराणा ने इसे टाल दिया था । यह हाथी अभी तक गोगूँदा की सेना में ही था । शाही सेना के अधिकारियों ने रामप्रसाद को शीघ्र अकबर के पास भेज देना उचित समझा । आसफ खां के परामर्श पर हाथी के साथ बदायूँनी का जाना निश्चित हुआ । बदायूँनी 300 अंगरक्षकों के साथ रामप्रसाद को लेकर फतेहपुर को चल पड़ा, क्योंकि सम्राट अकबर उस समय फतेहपुर में ही था । विभिन्न स्थानों पर मुगल थाने स्थापित करता हुआ मानसिंह भी गोगूँदा से बीस कोरर दूर मोही गांव तक शिकार खेलता हुआ बदायूँनी के साथ गया । बदायूँनी बाकीर और माण्डलगढ़ होता हुआ आमेर पहुंचा । मुगल मेवाड़ युद्ध का समाचार सभी जगह फैल गया था । मार्ग में लोगों को बदायूँनी मुगलों की विजय के विषय में बताता किन्तु लोग उसकी बातों पर सहसा विश्वास नहीं करते थे । 25 जून 1576 को बदायूँनी अकबर के पास फतेहपुर पहुंच गया ।

राजा भगवानदास ने युद्ध विजय के उपहारस्वरूप रामप्रसाद हाथी अकबर को समर्पित किया । युद्ध में विजय तथा रामप्रसाद को पाकर अकबर प्रसन्न हुआ, किन्तु महाराणा को न पकड़ पाने के कारण वह अपने सेनापतियों से रुष्ट हो गया । अकबर को सन्देह हो गया कि मानसिंह महाराणा के साथ मिल गया होगा । उसने मानसिंह के शाही दरबार में प्रवेश पर दो वर्ष के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया ।

अकबर हल्दीघाटी की जीत को पीर की कृपा का परिणाम मानता था । इसलिए जब रामप्रसाद उसे भेंट किया गया, तो उसने उसका नाम बदलकर पीरप्रसाद रख दिया ।

प्रताप द्वारा गोगूँदा वापस लेना

उधर मुगल पक्ष हल्दीघाटी युद्ध की समीक्षा कर भावी युद्धों की रूप-रेखा बनाने में व्यस्त था और इधर महाराणा प्रताप मुगलों द्वारा अधिकृत अपने राज्य को वापस लेने पर विचार कर रहे थे

। हल्दीघाटी युद्ध के तुरन्त बाद गोगूदा पर अधिकार कर लिया था, किन्तु प्रताप भी चुप बैठने वाले नहीं थे । उनकी गतिविधियों से मुगल सेना का गोगूदा में रहना दूभर हो गया था । इसी बीच प्रताप की सेना को गोगूदा पर पुनः अधिकार करने का अच्छा अवसर मिल गया । अकबर ने रुष्ट होकर मानसिंह को गोगूदा से वापस अजमेर बुला लिया । उसके स्थान पर कुतुबुद्दीन मुहम्मद खां, कुली खां आदि को गोगूदा भेज दिया । उन्हें आदेश दिया गया कि वे पूरे मेवाड़ को छान डालें तथा प्रताप जहां भी मिलें उन्हें मार दिया जाये ।

मानसिंह के गोगूदा में रहते समय भी, यदा-कदा मुगल सैनिकों के खाद्य सामग्री के लिए बाहर जाते समय महाराणा के सैनिक तथा उनके सहयोगी भील उन पर आक्रमण कर देते थे ।

मानसिंह का वहां से जाना महाराणा के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ । अकबर द्वारा भेजे गये नये सेनापति कुतुबुद्दीन मुहम्मद खान और कुली खां गोगूदा पर अपना नियन्त्रण नहीं रख सके । महाराणा प्रताप ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया । जुलाई 1576 ई. में उन्होंने पुनः गोगूदा पर आक्रमण कर दिया । मुगलों की सेना उनका सामना करने में असमर्थ रही और वहां से भाग खड़ी हुई । इस प्रकार बिना अधिक संघर्ष के ही गोगूदा पर प्रताप का अधिकार हो गया ।

गोगूदा पर अधिकार करने के बाद महाराणा न कुम्भगढ़ को अपना निवास-स्थान बनाया । गोगूदा तथा कुम्भलगढ़ दोनों स्थानों पर नये प्रशासकों की नियुक्ति की गई । इसके बाद वह अपने नये कार्यक्रमों के विषय में विचार करने लगे ।

अकबर का मेवाड़ □ प्रस्थान

अकबर के लिए मेवाड़ प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था । इस अध्याय में वर्णित घटनाओं से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है । अतः उसने स्वयं प्रताप का दमन करने का निर्णय लिया, किन्तु उसने अपने इस निर्णय को व्यक्त नहीं किया । राजपूताना जाते समय उसने यहां जाने का उद्देश्य मेवाड़ में जीते हुए प्रदेशों में शिकार की इच्छा बताया । वह प्रतिवर्ष सितम्बर के आस-पास ख्वाजा के उर्स में अजमेर जाता था । वह आक्रमण की योजना बनाने के लिए मार्च में ही अजमेर गया था, और सितम्बर में पुनः अजमेर पहुंच गया । वहां उसने ख्वाजा की मजार पर दुआएं मांगी तथा प्रताप को मिटाने की योजना बनाने लगा ।

हल्दीघाटी युद्ध में विजय पाने के उपलक्ष्य में अनेक वीरों को पदोन्नति तथा पुरस्कार दिये गये । मिहतर खां को विशेष रूप से सम्मानित किया गया, क्योंकि उसने बादशाह के आने की झूठी खबर फैलाकर भागती हुई सेना को पराजित होने से बचा लिया था, किन्तु भनक तथा आसफ खां से अकबर ने मिलना भी अस्वीकार कर दिया ।”

हल्दीघाटी की विजय तथा उसके बाद गोगूदा पर अधिकारमात्र को कुछ भी न मानने पर मुगल सम्राट स्वयं प्रताप का दमन करने का निर्णय ले चुका था । अतः जो कार्य मानसिंह नहीं कर पाया उसे स्वयं पूरा करने के लिए उसने 11 अक्टूबर 1576 को अजमेर से गोगूदा के लिए प्रस्थान किया । पूरे मार्ग में अकबर की सुरक्षा के लिए सुदृढ़ प्रबन्ध किये गये । प्रतिदिन अकबर

से पहले ही सैनिकों की टुकड़ी भेज दी जाती थी, ताकि यदि मेवाड़ से सैनिक हमला करने के लिए कहीं छिपे हों तो अकबर की रक्षा की जा सके । 13 अक्टूबर 1576 को वह गोगूदा पहुंच गया । अकबर के आने की सूचना मिलते ही महाराणा प्रताप पहाड़ों में चले गये । इस प्रकार गोगूदा पर पुनः मुगलों का अधिकार हो गया । गोगूदा को कुछ दिनों के लिए अकबर ने अपना मुख्यालय बना लिया ।

महाराणा प्रताप का पता लगाने के लिए अकबर ने राजा भगवानदास, मानसिंह, कुतुबुद्दीन खां आदि को भेजा । यह दल सेना के साथ जहां भी गया, इसे महाराणा के हमलों से हानि उठानी पड़ी, अतः निराश होकर वापस लौट आया । इनकी इस असफलता से नाराज होकर अकबर ने इनकी डयोढ़ी बन्द कर दी, जो क्षमा मांगने पर पुनः बहाल कर दी गई । अब अकबर स्वयं आगे आया । वह स्वयं हल्दीघाटी के उन स्थानों को देखना चाहता था, जहां युद्ध हुआ था । वह उन सभी स्थानों तक गया । प्रताप कहीं निकल न भागें इसके लिए उसने गुजरात के राजमार्ग पर सुरक्षा के प्रबन्ध कड़े कर दिए । इसके बाद वह पूर्व की ओर गया । अपने नाथद्वारा के पास मोही में कुछ कुशल सेनापतियों के अधीन तीस हजार सैनिकों की व्यवस्था कर दी । इस बाद मदारिया में शाही थाना नियुक्त कर वह नवम्बर में उदयपुर पहुंचा । कुछ दिन उदयपुर में रहने के बाद उसने फखरुद्दीन तथा जगन्नाथ को वहां का प्रशासक नियुक्त कर दिया । सैयद अछूता खां और भगवानदास को उदयपुर के पहाड़ी क्षेत्रों का उत्तरदायित्व सौंपकर वह बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर की ओर चल पड़ा । दो महीनों तक पश्चिमी पर्वतमाला के उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी कोनों में उसने थानों की नियुक्ति की । प्रताप इसी पर्वतमाला में थे । अतः ऐसा करके अकबर उन्हें आत्मसमर्पण के लिए विवश कर देना चाहता था ।

अकबर के लाख प्रयत्नों के बाद भी प्रताप पकड़ में नहीं आये । इसी समय उसे सूचना मिली कि प्रताप पुनः गोगूदा पर अधिकार करने की योजना बना रहे है । अतः भगवानदास, मानसिंह, मिर्जा खां आदि पुनः गोगूदा भेज दिए गए, वहां सुरक्षा के कड़े प्रबन्ध कर यह दल लौट आया । इस प्रकार लगभग छः माह तक मेवाड़ में रहने और यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी अकबर महाराणा को नहीं पकड़ पाया । उसे पूरा विश्वास हो गया कि उन्हें पकड़ पाना कोई सरल कार्य नहीं है ।

अकबर के नये गठबंधन

इस अभियान में अकबर प्रताप को तो नहीं पकड़ पाया, हां कुछ राज-परिवारों के साथ उसके नये सम्बन्ध बन गये । बांसवाड़े का रावल प्रतापसिंह तथा डूंगरपुर का रावल आसकर्ण दोनों महाराणा के मित्र थे । भगवानदास ने इन दोनों को अपनी ओर मिला लिया तथा अकबर की सेवा में उपस्थित किया । अकबर इससे अत्यन्त प्रसन्न हुआ । उसने दोनों की मित्रता का सम्मान किया । डूंगरपुर की राजकुमारी से विवाह कर अकबर ने रावल आसकर्ण को अपना सम्बन्धी बना लिया । इसके बाद वह मालवा की ओर चला गया ।

सिरोही और बूंदी इन दो राज्यों की सहानुभूति महाराणा के साथ थी । इन पर अकबर का

प्रभाव नहीं था। इसी समय अकबर ने रायसिंह को सिरोही पर आक्रमण करने के लिए भेजा। सिरोही का शासक भागकर आबू गया। रायसिंह ने उसका वहां भी पीछा किया। विवश होकर राव सुरत्राण ने समर्पण कर दिया। रायसिंह उसे अकबर के सामने ले गया। उसने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। इसी प्रकार सितम्बर 1576 में बूंदी पर अधिकार करने के लिए एक सेना सफदर खां के नेतृत्व में भेजी गई। इस सेना को सफलता न मिलने पर पुनः दूसरी सेना मार्च 1577 में जैनखां कोका के अधीन भेजी गई। इस युद्ध में बूंदी के गृह कलह के कारण राज्य की सेना का संचालन वहां का युवराज दुर्जनसिंह कर रहा था, जबकि उसके पिता सुरजन और भाई मुगल सेना का साथ दे रहे थे। अन्त में बूंदी की पराजय हो गई। इससे मेवाड़ मुगल रक्षा पंक्ति से घिर गया। अकबर 12 मई 1577 को फतेहपुर सीकरी लौट गया।

प्रताप द्वारा उदयपुर-गोगूदा पर पुनः अधिकार

मेवाड़ पर मुगलों का एक आघात होता, तो महाराणा अवसर मिलते ही प्रतिघात करने से न चूकते। इस संघर्ष ने एक आंख मिचौली का रूप ले लिया था। अकबर के मेवाड़ से लौटते ही महाराणा फिर सक्रिय हो गये। वह अकबर द्वारा स्थापित थानों पर घात लगाकर हमला करने लगे। उन्होंने मेवाड़ से आगरा जाने वाले मार्ग पर भी अधिकार कर लिया। अतः इस मार्ग से मुगल सेना का आवागमन अवरुद्ध हो गया। उदयपुर तथा गोगूदा में स्थापित मुगल थाने तुरन्त ही उठ गये और उन पर महाराणा का अधिकार हो गया। मोही पर हमले में वहां का थानेदार मारा गया। वीरविनोद के अनुसार महाराणा एक पल के लिए भी शान्त होकर नहीं बैठे। इस अवधि में उन्होंने अपनी युद्ध की पोशाक एक क्षण के लिए भी नहीं उतारी।

अकबर द्वारा शाहबाज खां को मेवाड़ □ भेजा जाना

प्रताप की इन गतिविधियों से मुगल सम्राट क्षुब्ध हो उठा। वह उस समय मेरठ में था। उसने महाराणा को मारने के लिए पुनः एक विशेष सेना भेजी। इसका सेनापति शाहबाज खां था। इसमें राजा भगवानदास, मानसिंह, सैयद हाशिम, पायन्दा खां मुगल, सैयद कासिम, सैयद राजू उलग असद तुर्कमान, गाजी खां बदकशी, शरीफ खां अतगह, मिर्जा खां खानखाना, गजरा चौहान आदि बड़े-बड़े सैन्य अधिकारी भी भेजे गये। 15 अक्टूबर 1577 को यह सेना अपने लक्ष्य पर चल पड़ी और मेवाड़ पहुंच गई। अनेक प्रयत्न करने पर भी इसे कोई सफलता नहीं मिली। अतः शाहबाज खां ने अकबर से अतिरिक्त सेना की मांग की। अकबर ने शेख इब्राहिम फतेहपुरी के अधीन एक अन्य सेना शीघ्र ही भेज दी।

दोनों सेनाओं को लेकर शाहबाज खां आगे बढ़ा। वह अपने कार्य में कोई कमी नहीं रहने देना चाहता था। उसे सन्देह हो गया कि कहीं राजपूत होने के कारण राजा मानसिंह तथा भगवानदास धोखे से प्रताप की सहायता न करे। अतः उसने इन दोनों को इस अभियान से अलग कर दिया। यही नहीं इस सेना में एक भी हिन्दू अधिकारी नहीं रहने दिया गया। शाहबाज खां का यह कार्य अकबर की आज्ञाओं का स्पष्ट उल्लंघन था, किन्तु फिर भी अकबर ने उससे कुछ भी नहीं कहा।

|

पहाड़ियों की शरण में

मानसिंह के लौटते ही महाराणा प्रताप ने गोगूँदा पर अधिकार कर लिया था तथा इसके बाद कुम्भलगढ़ को अपनी अस्थाई राजधानी बना लिया था। यहां रहकर वह राज्य में युद्ध के बाद आई अव्यवस्था को दूर करने में लग गए। मुगल सेना जिन मार्गों से खाद्य पदार्थ ले जाती थी, उन मार्गों को उन्होंने काट दिया था। इस बीच में पड़ने वाली समस्त कृषि योग्य भूमि उजाड़ दी गई थी।

इधर शाहबाज खां के अभियान पर निकालने के बाद जब उसने केलवाड़ा के पास शिविर डाला, तो महाराणा को कुम्भलगढ़ छोड़कर वनों और पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी। तथा अपनी प्रजा को कृषि न करने की कठोर आज्ञा देनी पड़ी और इस क्षेत्र की जनता को चले जाने का आदेश दिया। यह राजाज्ञा इतनी कठोर थी कि प्रजा से कहा गया कि यदि कोई भी कृषक एक विरचा भूमि में भी खेती करके मुसलमानों को देगा, तो उसका सिर काट लिया जाएगा। इस राजाज्ञा से सारे मेवाड़ में खेती करना बन्द हो गया। कृषक परिवार मेवाड़ छोड़कर अन्यत्र चले गये। मुगल अधिकृत मेवाड़ में सभी सामग्री पूर्ण सुरक्षा के साथ अजमेर की ओर से मंगाई जाती थी। शाही सेना के किसी थानेदार ने एक किसान को कोई विशेष प्रकार की सब्जी बोने के लिए बाध्य कर दिया था। प्रताप को इसकी सूचना मिल गई। एक रात्रि प्रताप ने शाही सेना के शिविर में जाकर उस किसान का सिर काट डाला।

टॉड ने एक घटना का उल्लेख किया है, जो प्रताप की इसी कठोर आज्ञा की ओर संकेत करती है। प्रताप द्वारा जिन स्थानों को छोड़कर वीरान कर दिया गया था, वहां एक दिन प्रताप के सैनिकों ने देखा कि एक गड़रिया निश्चिन्त होकर भेड़ें चरा रहा है। सैनिकों ने इसे राजाज्ञा का उल्लंघन समझा और उस गड़रिये को मार डाला तथा उसके शव को पेड़ पर लटका दिया।

इस बीच मुगल सेना प्रताप के पीछे पड़ी रही, किन्तु सफलता नहीं मिली।

कुम्भलगढ़ पर मुगल अधिकार

भगवानदास और मानसिंह को वापस भेजने के बाद शाहबाज खां आगे बढ़ा। कुम्भलगढ़ दुर्ग पहाड़ियों से पूरी तरह छिपा हुआ था। जो दूर से नहीं दिखाई देता था। इस दुर्ग की पहाड़ियों के नीचे केलवाड़ा गांव था। शाही सेना ने इसी गांव में अपना शिविर लगाया। एक दिन मेवाड़ के सैनिकों ने रात में छपा मारकर शाही सेना के चार हाथी छीन लिए और महाराणा को भेंट कर दिए। शाही सेना ने केलवाड़ा तथा नाडोल की ओर से नाकेबन्दी कर दी और कुम्भलगढ़ में खाद्य और युद्ध की सामग्री पहुंचना कठिन हो गया। इस परिस्थिति को देखकर मेवाड़ के सामन्तों ने महाराणा से किला छोड़कर सुरक्षित स्थान चले जाने का अनुरोध किया। अत्यधिक आग्रह किये जाने पर महाराणा किले से निकल गये। वहां से निकलने के बाद वह कुछ दिन राणपुर में ठहरे

और इसके बाद ईडर की ओर चूलिया गांव पहुंचे । मेवाड़ के इतिहास ने दूसरी ही पीढ़ी में अपनी पुनरावृत्ति कर दी । एक बार महाराणा उदयसिंह को सन् 1567 में राजधानी छोड़कर पश्चिमी पहाड़ियों की शरण लेनी पड़ी थी और चित्तौड़ दुर्ग का रक्षा भार जयसिंह और पत्ता को सौंप दिया गया था । इस बार महाराणा को वनों की शरण लेनी पड़ी । किले की रक्षा के लिए राव अक्षयराज ये पुत्र भाण को नियुक्त किया गया ।

एक किंवदन्ती है कि कुम्भलगढ़ का मार्ग शाहबाज खां को ज्ञात नहीं था । इसके लिए उसने महाराणा की एक मालिन को किसी प्रकार अपने पक्ष में कर लिया । मालिन मार्ग पर फूल बिखेरती गई । उन फूलों को देखकर मुगल सेना केलवाड़ा तक पहुंच गई । मालिन के इस द्रोह पर एक भील ने उसे मार डाला ।

केलवाड़ा से कुम्भलगढ़ केवल तीन मील की दूरी पर स्थित है । अतः केलवाड़ा पर अधिकार कर लेने के बाद शाहबाज खां कुम्भलगढ़ पर अधिकार की योजना बनाने लगा । कुम्भलगढ़ दुर्ग का निर्माण सन् 1452 ई. में हुआ था । तब से इस पर कभी भी शत्रुओं का अधिकार नहीं हुआ था । महाराणा का मंत्री भामाशाह दुर्ग से समस्त कोष लेकर मालवा में रामपुरा चला गया । वहां के राव ने उसे आश्रय दिया तथा पूरी सुरक्षा के साथ रखा ।

केलवाड़ा से शाहबाज खां के नेतृत्व में मुगल सेना ने कुम्भलगढ़ पर आक्रमण कर दिया । किले में स्थित राजपूतों ने इन आक्रमणों का वीरता के साथ सामना किया । दुर्भाग्य से एक दिन किले के अन्दर रखी एक तोप फट पड़ी, जिसमें किले में रखी युद्ध की बहुत सारी सामग्री जल गई । राजपूतों के लिए शत्रुओं का सामना करना कठिन हो गया । विवश होकर उन्होंने किले का दरवाजा खोल दिया और शत्रु सेना पर टूट पड़े । घमासान युद्ध के बाद कुम्भलगढ़ पर मुगलों का अधिकार हो गया । यह घटना 3 अप्रैल 1578 की है । यहां प्रताप को न पाकर शाहबाज खां को बड़ी निराशा हुई । वहीं उसे सूचना मिली कि महाराणा रामपुरा के किले में चले गए हैं इसके बाद नई सूचना मिली कि रामपुरा के बाद वह बांसवाड़ा चले गए हैं ।

इन सूचनाओं के बाद शाहबाज खां ने कुम्भलगढ़ में सुरक्षा प्रबन्ध तथा अन्य व्यवस्थाएं करके उसका भार गाजीखान बादकशी को सौंप दिया तथा स्वयं महाराणा को पकड़ने के लिए चल पड़ा ।

उदयपुर पर मुगलों का अधिकार

कुम्भलगढ़ पर अधिकार करने के दूसरे ही दिन शाहबाज खां गोग्मा की ओर चल पड़ा । वह महाराणा को किसी भी मूल्य पर पकड़ना चाहता था । दूसरे ही दिन दोपहर में उसने गोगूदा पर अधिकार कर लिया । गोगूदा की व्यवस्था कर वह आधी की तरह उदयपुर की ओर बढ़ा तथा रात्रि में उदयपुर पर भी अधिकार कर लिया । इस जीते गए स्थानों पर उसने भारी लूटपाट की । शाहबाज खां जिधर से भी निकलता उन स्थानों को लूटने के साथ ही नष्ट कर डालता । इससे उन क्षेत्रों में भारी हानि हुई । इसके बाद वह प्रताप को पकड़ने के लिए पहाड़ों पर भटकता रहा,

किन्तु उसे असफलता ही हाथ लगी ।

शाहबाज खां तीन महीनों तक पहाड़ियों में इधर से उधर घूमता रहा । अब उसे विश्वास हो गया था कि वह प्रताप को नहीं पकड़ सकता । अतः विभिन्न स्थानों पर पचास मुगल थानों की स्थापना कर वह अकबर के पास पंजाब चला गया ।

शाहबाज खां ने जिस तत्परता से कुम्भलगढ़ के बाद गोगूदा और उदयपुर को अधिकार में किया वह एक आश्चर्यजनक बात है । उसे जहां भी प्रताप के होने की सूचना मिलती यह वहीं पहुंच जाता । कुम्भलगढ़ में उसे गलत सूचना मिली, किन्तु वह जिस उत्साह से कार्य कर रहा था, वह प्रशंसनीय ही कहा जाएगा, इस विषय में श्री राजेन्द्र बीड़ा ने लिखा है-

“कुम्भलगढ़ से शाहबाज खां जिस तेजी से गोगूदा और उदयपुर पहुंचा, वह कम आश्चर्यजनक नहीं है । कुम्भलगढ़ से गोगूदा और उदयपुर पहुंचकर उसने नेपोलियन को भी मात कर दिया । रूस के युद्ध के बाद नेपोलियन जिस तत्परता से प्रान्त पहुंचा था, उसी तत्परता से शाहबाज खान गोग्मा और उदयपुर पहुंचा था । शाहबाज खान को क्या पता था कि प्रताप के बारे में उसे गलत सूचना मिली है । प्रताप कुम्भलगढ़ से सादड़ी की ओर ही जा सकता था । वह आरौठ की घाटी और गोगूदा किसी भी हालत में नहीं जा सकता था । उधर मुगल सेना पहले से ही तैनात थी ।”

भामाशाह द्वारा आर्थिक सहायता

मेवाड़ के महाराणा इस समय वन्य जीवन जी रहे थे । मेवाड़ पर प्रायः मुगलों का अधिकार हो चुका था और शेष भाग वीरान हो चुका था । महाराणा निरन्तर संघर्ष कर रहे थे । कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही चिन्तनीय हो गई थी । उनके इस संघर्षमय जीवन में उनके विश्वासपात्र सहयोगियों तथा सामन्तों का भी बहुत बड़ा योगदान रहा । शाहबाज खां के मेवाड़ से जाने के तुरन्त बाद ही प्रताप के मन्त्री भामाशाह तथा उसके भाई ताराचन्द्र ने मालवा से लूटकर लायी हुई 20000 स्वर्ण मुद्राएं (अशर्फियां) तथा 2500000 रुपये की धनराशि उन्हें समर्पित की । इस समय महाराणा धूलिया गांव में थे । अब तक रामा महासहाणी महाराणा का प्रधानमन्त्री था । भामाशाह की इस अपूर्व राजभक्ति तथा त्याग से प्रसन्न होकर महाराणा ने उसे अपना नया प्रधानमन्त्री बनाया ।

ऐसे समय में इस प्रकार आर्थिक सहायता का मिलना किसी वरदान से कम नहीं था । इससे महाराणा की सेना का संगठन तथा शक्ति संचय करने में बड़ी सहायता मिली ।

भामाशाह को मालवा में रामपुरा के राव दुर्गा ने अपने संरक्षण में रखा था, अतः भामाशाह द्वारा मालवा लूटकर धनसंग्रह की बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती । कदाचित् यह धनराशि मालवा राज्य के बाहर के गांवों से लूटी गई हो । इस विषय में श्री राजेन्द्र बीड़ा लिखते हैं-

"इतिहासकारों का कहना है कि भामाशाह कुम्भलगढ़ से मालवा चला गया था, जहां रामपुरा के राव दुर्गा ने उसे संरक्षण दिया था । मालवा के बीच के गांवों को लूटकर भामाशाह और उसके

भाई ताराचन्द्र ने 25000000 रु. और 20000 मोहरें इकट्ठी की थी। यही पैसा उन्होंने प्रताप (या अमरसिंह) को चूलिया में अर्पित किया था। इस तथ्य को लेकर भामाशाह के त्याग और देशभक्ति की बात की जाती है। इस भेंट के बाद यह वापस राणाओं का प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया गया। इस सम्बन्ध में कई अविरोध सामने आते हैं। प्रथम यह कि रामपुरा में भामाशाह को संरक्षण देते हुए कीका ने मालवा के गांवों को लूटने की स्वीकृति दे दी और उनके इस कार्य को बर्दाश्त कैसे किया। लगता है कि यह धनराशि मालवा जाते समय रास्ते में पड़ने वाले गांवों को लूटकर एकत्रित की गई थी और उसे अमरसिंह को भेंट किया गया होगा। इससे राणा ने सेना को पुनः एकत्रित कर दिवेर में पड़ी मुगल सेना पर हमला बोल दिया।"

चाहे भामाशाह को यह धनराशि कहीं से और किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हुई हो, यह प्रश्न कोई महत्व नहीं रखता। महत्त्वपूर्ण बात तो उसकी त्याग भावना है। विपत्ति में पड़े स्वामी के प्रति इस प्रकार की श्रद्धा का उदाहरण संभवतः ही कोई दूसरा मिलता हो। इस प्रकार की त्याग भावना ही मित्रता की सच्ची कसौटी कही जाएगी।

महाराणा द्वारा दिवेर पर अधिकार

शाहबाज खां के मेवाड़ से जाते ही महाराणा बांसवाड़ा की ओर से छप्पन ने पहाड़ों में पहुंच गए। वह मेवाड़ के मुगल अधिकृत क्षेत्रों पर पुनः अधिकार करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने शाही क्षेत्रों पर हमले आरम्भ कर दिए। इधर भामाशाह द्वारा आर्थिक सहायता मिल जाने पर उन्होंने सेना का पुनर्गठन किया और दिवेर स्थित मुगलों के शाही थाने पर आक्रमण कर दिया। इस थाने में सुल्तान खां मुगल मुख्तार का नियन्त्रण था। हमले में मुगल सेना ने राजपूतों का वीरता से सामना किया। सुल्तान खां मुगल और युवराज अमरसिंह एक-दूसरे से जूझ पड़े। अमरसिंह ने अपना भाला इतनी शक्ति से मारा कि वह सुल्तान खां मुगल को बेधता हुआ उसके घोड़े के भी आर-पार हो गया। दोनों तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गए। एक अन्य मेवाड़ी सैनिक ने शत्रुपक्ष के एक हाथी का पैर काट डाला। इसके बाद शाही सैनिक भाग खड़े हुए और दिवेर महाराणा के अधिकार में आ गया।

दिवेर पर अधिकार हो जाने के बाद मेवाड़ की सेना ने हमीरसरा पर अधिकार कर लिया। यह स्थान कुम्भलगढ़ के बिल्कुल पास ही था। अतः यहां के बाद सेना कुम्भलगढ़ की ओर बढ़ चली और उसे भी अपने अधिकार में ले लिया। इसके बाद महाराणा की सेना जावर, छप्पन और बागड़ की पहाड़ियों पर विजय प्राप्त करती हुई चादण्ड पहुंची। चावण्ड को अपने अधिकार में लेने के बाद महाराणा ने इस स्थान को कुछ दिन के लिए अपना केन्द्र बनाया। यहां रहकर उन्होंने चामुण्डा माता के प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। इस प्रकार शीघ्र ही एक बार फिर मेवाड़ के एक बड़े भू-भाग पर महाराणा का अधिकार हो गया।

इससे मेवाड़ के सैनिकों के उत्साह में वृद्धि हुई और वे मालवा तक मुगलों के सैनिक शिविरों पर हमले लगे। भामाशाह का भाई ताराचन्द्र अभी तक मालवा में ही था। जिस समय शाहबाज खां लौटकर पंजाब जा रहा था, बरसी में उसकी ताराचन्द्र से मुठभेड़ हो गई, जिसमें ताराचन्द्र की

हार हुई वह घायल हो गया था । घायल अवस्था में राव चैनदास ने उसका उपचार किया तथा सभी प्रकार से सहायता की । स्वस्थ हो जाने के बाद ताराचन्द्र को राव चैन-दास महाराणा के पास चावण्ड ले गया ।

इससे पूर्व डूंगरपुर के राव आसकरण तथा बांसवाड़ा के राव प्रताप ने अकबर से मित्रता कर ली थी । इसके पीछे भगवानदास की भूमिका रही थी, इसका पूर्वोल्लेख किया जा चुका है । महाराणा प्रताप ने इन्हें अपने अधीन करने के लिए एक सेना भेजी । इस सेना का नेतृत्व रावतमान ने किया । रावतमान को इस अभियान में सहायता देने के लिए जोधपुर का राव चन्द्रसेन भी आ पहुंचा । सोम नदी के तट पर रावतमान की सेना का बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर की सेना से सामना हुआ । इस युद्ध में रावतमान का पुत्र वीरगति को प्राप्त हो गया, किन्तु युद्ध रावतमान ने जीत लिया । ये दोनों राज्य पुनः प्रताप के अधिकार में आ गये ।

डूंगरपुर तथा बांसवाड़ा पर मेवाड़ के पुनः अधिकार की उक्त घटना के विषय में सभी इतिहासकार एकमत नहीं हैं । गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा के अनुसार इन दोनों राज्यों के मुगलों के प्रभाव में चले जाने से मेवाड़ को सीधा खतरा उत्पन्न हो गया था । प्रताप ने पहले इन्हें बातचीत से अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें उन्हें कोई सफलता न मिली । इसके बाद इन्हें सैन्य शक्ति से वश में करने के लिए सेना भेज दी गई ।

सन् 1578 में सोम नदी पर लड़ाई हुई । बांसवाड़ा और डूंगरपुर की ओर से मुगल सेना ने भी युद्ध में भाग लिया । अतः उनका पक्ष सशक्त हो गया और प्रताप को सफलता नहीं मिली । इससे प्रताप को एक लाभ यह हुआ कि कुछ समय तक मुगल सेना उधर ही व्यस्त रह गई ।

इस असफलता के बाद महाराणा ने कूटनीति से काम लिया । डूंगरपुर के रावल आसकरण ने अकबर का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया, तो इससे खिन्न होकर उसका पुत्र सहमल मेवाड़ चला गया । प्रताप ने उसे आश्रय देकर गद्दी पर बिठाने का प्रयत्न किया ।

शाहबाज खां दूसरी बार मेवाड़ □ में

प्रताप की गतिविधियों के ये समस्त समाचार अकबर को मिले । इससे अकबर की चिन्ता बढ़ने लगी । उसने प्रताप की इन कार्यवाहियों को नियन्त्रित करने की योजना बनाई । शाहबाज खां का प्रथम मेवाड़ अभियान सन्तोषजनक रहा था । अतः अकबर ने पुनः उसे ही इस कार्य के लिए भेजना उचित समझा । 15 दिसम्बर न 578 ई. को शाहबाज खां महाराणा को दबाने के लिए चल पड़ा, उसके साथ सहायकों के रूप में गाजी खां, मुहम्मद हुसैन, मीरजाद, शेख तिमूर बादकशी, अली खान आदि को भेजा गया ।

इस अभियान के लिए शाहबाज खां को विशाल धनराशि दी गई, जिससे वह साम, दाम, दण्ड या भेद किसी भी उपाय से प्रताप का दमन करने में समर्थ हो सके । उसके मेवाड़ पहुंचते ही महाराणा पुनः वनों में चले गए । अनेक स्थानों पर पुनः मुगलों का अधिकार हो गया । कहा जाता है कि इस अभियान दल को भेजते समय अकबर ने कठोर आदेश दिए थे । यदि वे प्रताप

का दमन किए बिना लौट आए, तो उनके सिर काट दिए जाएंगे। इसीलिए विशाल धनराशि भी दी गई, जिससे आवश्यकता पड़ने पर राजपूतों को खरीदा जा सके।

प्रताप के पुनः पहाड़ियों में चले जाने तक अनेक क्षेत्रों पर मुगलों का फिर से अधिकार हो जाने के बाद शाहबाज खां फतेहपुर अकबर के पास लौट गया। उसने अपनी समस्त उपलब्धियों की सूचना अकबर को दी। शाहबाज खां मेवाड़ में राजपूतों के साथ अधिक धार्मिक कठोरता का व्यवहार करना चाहता था। उसने अपना यह विचार अकबर के सामने रखा, किन्तु इस समय अकबर की धार्मिक नीतियों में परिवर्तन आ गया था। वह धार्मिक कट्टरता को व्यर्थ तथा अन्यायपूर्ण समझने लगा था और दीन-ए-इलाही की ओर झुक गया था। अतः उसने खान के इस परामर्श को स्वीकार नहीं किया।

शाहबाज खां अपने इस दूसरे अभियान में भी दो-तीन महीने मेवाड़ में रहा उसने यथाशक्ति महाराणा का पीछा किया। उसे भले ही सफलता नहीं मिली फिर भी वह मेवाड़ पर अधिकार करने में दूसरी बार भी सफल रहा।

प्रताप पुनः सक्रिय

शाहबाज खां के लौटते ही प्रताप पुनः मेवाड़ को अधिकार में करने के लिए सक्रिय हो गये। शाहबाज खां की दूसरी बार मेवाड़ में उपस्थिति के समय वह वनों में चले गए थे तथा कुछ समय के लिए शान्त रहे। जोधपुर का राय चन्द्रसेन प्रताप का समर्थक था। 1578 के अन्त में उसने मुगलों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। वह अपनी सेना के साथ अजमेर तक जा पहुंचा। अकबर ने इस विद्रोह को दबाने के लिए पयन्द मुहम्मद खां के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेज दी। यह सेना चन्द्रसेन के विद्रोह को दबाने में सफल रही।

इसके साथ ही महाराणा प्रताप ने भी मुगल विरोधी कार्यक्रम और तीव्र कर दिया था। शाहबाज खां को मेवाड़ के पहले दो अभियानों में अच्छी सफलता मिली थी। अतः अकबर ने महाराणा की गतिविधियों को दबाने के लिए उसे पुनः मेवाड़ भेजने का निर्णय लिया।

शाहबाज खां तीसरी बार मेवाड़ □ में

अकबर किसी भी मूल्य पर महाराणा का दमन कर मेवाड़ में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहता था। इसके लिए वह कई बार अजमेर स्थिति ख्वाजा की दरगाह में मन्त्रते मांग चुका था, किन्तु अभी तक उसे मनचाही सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। अक्टूबर 1579 में वह पुनः ख्वाजा की दरगाह अजमेर पहुंचा। वहां उसने पुनः मन्त्रत मांगी और फिर सांभर पहुंचा। वहां से उसने तीसरी बार शाहबाज खां को मेवाड़ जाने का आदेश दिया। 9 नवम्बर 1579 को शाहबाज खां मेवाड़ पर अपने तृतीय अभियान पर चल पड़ा। मेवाड़ पहुंच कर उसने प्रताप के विरुद्ध अपनी पूरी शक्ति लगा दी। प्रताप पुनः पर्वतों पर चले गए। उसने समस्त मध्य मेवाड़ में प्रताप का प्रभाव समाप्त कर देने में सफलता प्राप्त की, परन्तु वह प्रताप को नहीं पकड़ सका।

शाहबाज खां पहाड़ों, वनों आदि सभी जगहों उन्हें पकड़ने के लिए घूमता रहा, किन्तु प्रताप आबू से बारह मील दूर सोला के पहाड़ों में चले गए। वहां वह लोयाना के राव धूला के अतिथि बनकर रहे। राय धूला ने उनको हर प्रकार की सुविधा तथा सम्मान दिया। इसके साथ ही उनके साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया। महाराणा ने राव धूला को राणा की उपाधि दी।

सम्राट अकबर ने शाहबाज खां को मेवाड़ भेजते समय अत्यन्त कठोर आदेश दिए थे। यद्यपि शाहबाज खां को महाराणा का प्रभाव समाप्त करने में सफलता मिली थी, फिर भी अकबर के कड़े आदेशों का पालन करने में वह असमर्थ रहा। अतः अकबर उससे नाराज हो गया और सन् 1580 के मध्य में वह वापस बुला लिया गया।

शाहबाज खां के वापस चले जाने के बाद अकबर ने रूस्तम खां को अजमेर का सूबेदार बनाकर भेजा। वह प्रताप के विरुद्ध किसी अभियान पर जाता, इससे पहले ही शेरपुरा के कुछ कछवाहों ने विद्रोह कर दिया। वह इस विद्रोह को दबाने के लिए पहुंचा, किन्तु मारा गया। सूबेदार के रूप में उसका कार्यकाल केवल चार महीने ही रहा।

खानखाना का मेवाड़ □ अभियान

जून के मध्य में रूस्तम खा की मृत्यु के बाद 16 जून 1580 को अकबर ने अजमेर के सूबेदार के पद पर अजुर्हीम खानखान की नियुक्ति की। खानखाना को मेवाड़ की लड़ाइयों का अच्छा अनुभव था। वह मेवाड़ के अभियानों में सम्राट अकबर तथा शाहबाज खां के साथ काम कर चुका था। अतः उससे अपेक्षा की गई कि वह मेवाड़ समस्या का समाधान पाने में समर्थ होगा।

खानखाना प्रताप का दमन करने में जुट गया। उसने अपना परिवार शेरपुरा में छोड़ दिया और स्वयं प्रताप का पीछा करने में लग गया। इसका समाचार पाते ही महाराणा-ढोलान की ओर चले गए। प्रताप से खानखाना का ध्यान बंटाने के लिए अमरसिंह के आधीन एक सैनिक टुकड़ी ने शेरपुरा पर आक्रमण कर दिया। इस हमले में अमरसिंह ने खाना के परिवार को बन्दी बना लिया। यह सूचना महाराणा के पास भेज दी गई। सूचना मिलते ही उन्होंने अमरसिंह को सूचित किया कि खानखाना के परिवार को तुरन्त सम्मान के साथ मुक्त कर दिया जाए तथा महिलाओं के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न होने पाए। महाराणा के इस आदेश का पूर्ण पालन हुआ, बन्दी बनाया गया खानखाना का पूरा परिवार सम्मान के साथ खानखाना के पास पहुंचा दिया गया।

मुसलमानों से ऐसे व्यवहार की अपेक्षा कभी नहीं की जा सकती थी। महाराणा के इस उदार मानवतापूर्ण व्यवहार से खानखाना का कवि हृदय अभिभूत हो उठा। महाराणा के प्रति उनकी कृतज्ञता निम्न दोहे में साकार हो उठी-

ध्रम रहसी रहसी धरा
खस जारो खुरसाण ।
अमर विसम्भर ऊपरौ,

राखौ नह जौ राण । ।

खानखाना का भावुक हृदय महाराणा के प्रति श्रद्धा से भर गया था फिर भी सम्राट की आज्ञा का पालन करना उसका कर्तव्य था । अतः वह मेवाड़ के प्रदेशों को फिर से वापस लेने में संलग्न हो गया ।

जगन्नाथ कछवाय मेवाड़ □ अभियान पर

खानखाना के प्रति महाराणा के उदार व्यवहार का समाचार प्राप्त होने पर अकबर ने समझ लिया कि खानखाना पूर्ण प्रयत्न से अपना कर्तव्य नहीं निभा पाएगा । अतः उसने किसी अन्य व्यक्ति को मेवाड़ अभियान पर भेजने का निश्चय किया । यद्यपि खानखाना को पदच्युत नहीं किया वह 1591 ई. तक इस पद पर बना रहा, किन्तु महाराणा के विरुद्ध अभियान पर राजा जगन्नाथ कछवाहा की नियुक्ति कर दी गई, जो राजा भगवानदास का छोटा भाई था । उसने हल्दीघाटी युद्ध में भी भाग लिया था ।

6 दिसम्बर 1584 को जगन्नाथ कछवाहा मेवाड़ के लिए चल पड़ा । उसका वक्शी बनाकर मिरजा जाफर बेग को भेजा गया । उसने मेवाड़ पहुंचते ही प्रताप द्वारा अधिकार में लिए गये क्षेत्रों को अपने अधिकार में लेना प्रारम्भ कर दिया और शीघ्र ही मोही, माण्डलगढ़ मदारिया आदि स्थानों पर पुनः मुगल थानों की स्थापना कर दी । सैयद राजू को माण्डलगढ़ की व्यवस्था सौंपकर जगन्नाथ कछवाहा महाराणा को ढूंढ़ने चल पड़ा । महाराणा चित्तौड़ की पहाड़ियों में चले गए । मुगलों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों पर उन्होंने दूसरी ओर से आक्रमण कर दिया । सैयद राजू उनका सामना करने के लिए आगे बढ़ा, किन्तु प्रताप पुनः चित्तौड़ की पहाड़ियों में चले गये । सैयद राजू को विवश होकर माण्डलगढ़ लौटना पड़ा । जगन्नाथ कछवाहा ने कुम्भलगढ़ पर भी आक्रमण किया, किन्तु प्रताप वहां भी नहीं मिले, अतः वह भी वापस माण्डलगढ़ लौट आया ।

जगन्नाथ कछवाहा को जिस व्यक्ति पर भी सन्देह होता उसी से प्रताप के विषय में पूछने लगता, किन्तु किसी से भी प्रताप का पता न लगा सका । प्रताप कछवाहा के लिए एक हौवा बन गये थे । इस विषय में श्रीराम शर्मा ने लिखा है-

“राजू ने वहीं से कुम्भलगढ़ पर आक्रमण कर दिया । प्रताप चुपचाप कुम्भलगढ़ से खिसक गया । राजू ने जमकर प्रताप का पीछा किया, परन्तु इससे पहले कि राजू प्रताप की सेनाओं पर अधिकार करता, प्रताप कुम्भलगढ़ छोड़कर चित्तौड़ पहुंच गया । राजू ने प्रताप का पीछा नहीं छोड़ा । चित्तौड़ में राजू को प्रताप नहीं मिल सका । इधर राजू प्रताप का पीछा कर रहा था, उधर जगन्नाथ, दोनों की सेनाएं एक स्थान पर मिलीं । इन दोनों ने प्रताप की जानकारी के लिए जान लड़ा दी । जिस किसी व्यक्ति पर उन्हें शंका होती, वे उससे पूछताछ करते । उसे तंग करते । परन्तु राणा का पता नहीं लग सका । मेकबत के नाटक में ‘बादशाह लीयर’ की तरह । It’s here, It’s there, It’s no where वाली बात ही महाराणा प्रताप पर चरितार्थ होती है ।”

जगन्नाथ कछवाहा लाख प्रयत्न करने पर भी महाराणा को नहीं पकड़ सका । इसी खीज में

उसने अपने मार्ग में पड़ने वाले मेवाड़ के क्षेत्रों को पूरी तरह से तहस-नहस कर डाला था ।

अमरसिंह की निराशा

वीरविनोद में एक घटना का उल्लेख हुआ है, जिससे पता लगता है कि वन्य जीवन की कठिनाइयों से एक बार युवराज अमरसिंह विचलित हो गये थे । एक बार प्रताप पहाड़ियों में अपने सामन्तों के साथ एक झोपड़ी में बैठे थे । उसके साथ ही लगी दूसरी झोपड़ी में अमरसिंह अपनी पत्नी के साथ बैठा था । उसकी पत्नी वन्य जीवन से तंग आ गई थी । उसने अपने पति से कह दिया कि आखिर यह जीवन कब तक जीना पड़ेगा, इसका कभी अन्त होगा भी या नहीं । इस पर अमरसिंह ने कहा कि इसमें मैं कर ही क्या सकता हूँ पिताजी के समक्ष मुझे कुछ बोलने का साहस ही नहीं होता ।

महाराणा प्रताप ने अपने पुत्र तथा पुत्रवधू का यह समस्त वार्तालाप सुन लिया । उन्हें अपने पुत्र की इस निराशा से बड़ा दुःख हुआ । वह अपने सामन्तों से बोले-

"ए सरदार लोगों! मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे बाद यह अमरसिंह जो दिल से आराम चाहता है, कभी भी तकलीफ नहीं उठाएगा और मुसलमानों के दिए हुए खिलअत पहनेगा और फर्मानों को अदब के साथ लेगा और ताबेदारी करना कबूल करेगा और हमारे बेदाग वंश को अपने आराम के लिए दाग लगाएगा ।"

पिता के मुंह से इन शब्दों को सुनकर अमरसिंह अत्यन्त लज्जित हुआ । यद्यपि उसने महाराणा प्रताप से कुछ भी नहीं कहा, किन्तु प्रतिज्ञा की कि यह जीवनपर्यन्त मुगलों की अधीनता स्वीकार नहीं करेगा ।

इतिहास साक्षी है कि अमरसिंह अपनी इस प्रतिज्ञा पर अटल न रह सका । अंततः महाराणा प्रताप की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई । जिस वंश में देश, जाति, धर्म तथा स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणों की भी परवाह न करने वाले राणा कुम्भा, राणा हमीर, राणा सांगा तथा महाराणा प्रताप जैसे वीर शासक हुए, उसी वंश के अमरसिंह ने 1614 ई. में सन्धि कर ली।

महाराणा का अकबर को पत्र : एक विवादास्पद तथ्य

महाराणा प्रताप के विषय में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हो गई हैं । कहा जाता है कि शाहबाज खां ने अपने अभियानों में मेवाड़ को तहस-नहस कर डाला । अपने प्रिय मेवाड़ की इस दुर्दशा को देखकर तथा मुगल आक्रमणों के आतंक से महाराणा प्रताप ने अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए एक पत्र लिखा । कर्नल टॉड ने राजपूताने के इतिहास में इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह पत्र अकबर के पास पहुंचा । प्रथम तो उसे ही विश्वास नहीं हुआ । अतः शंका दूर करने के लिए उसने अपने दरबारियों से इस विषय में पूछा । इस पर उसके एक दरबारी बीकानेर के राजा पृथ्वीराज को महान दुःख हुआ, क्योंकि सभी राजपूतों की प्रताप के प्रति श्रद्धा थी । वे नहीं चाहते थे कि प्रताप अकबर के सामने झुक जाएं । पृथ्वीराज ने स्पष्ट कह

दिया कि यह पत्र महाराणा का हो ही नहीं सकता । इसके बाद पृथ्वीराज ने महाराणा को एक पत्र लिखा । यह पत्र राजस्थानी भाषा की कविता में था, जिसका सार इस प्रकार है-

"हिन्दुओं का सम्पूर्ण भरोसा एक हिन्दू पर है । राणा ने सब कुछ छोड़ दिया; और इसी से राजपूतों का गौरव आज भी बहुत कुछ सुरक्षित रह सका है ।... प्रताप ने अपना सर्वस्व त्याग दिया है, क्या वह अपने स्वाभिमान की गौरव को भी बेचना चाहता है ।... बाजार में जिसने राजपूतों के गौरव की खरीद की है, वह भी एक दिन मिटने वाला है! उस दशा में हमारा गौरव राणा प्रताप द्वारा ही प्राप्त होगा । उस दिन की प्रतीक्षा में राजस्थान के सम्पूर्ण राजपूतों की आंखें लगी हुई हैं ।"

इस पत्र से प्रताप का स्वाभिमान पुनः जाग पड़ा और वह अन्त तक संघर्ष करते रहे ।

तत्कालीन किसी भी इतिहासकार ने प्रताप के इस पत्र का उल्लेख नहीं किया है । टॉड के इस वर्णन का आधार राजस्थान की एक लोक कथा ही है । इसीलिए प्रायः सभी इतिहासकारों ने इस घटना की सत्यता पर सन्देह व्यक्त किया है । डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

"राणा के संबंध में एक और लोककथा है, जिसे इतिहास स्वीकार नहीं करता और वह यह कि शाही फौजों के आतंक से घबराकर प्रताप ने सम्राट को क्षमायाचनार्थ पत्र लिखा, यह कथा कर्नल टॉड ने बीकानेर की मौखिक परम्परा से ग्रहण की और उसका प्रचार किया । डिंगल साहित्य में राणा और बीकानेर के पृथ्वीराज (जो कवि भी था) के बीच तथाकथित पत्रव्यवहार का उल्लेख मिलता है, जिसमें कुंवर पृथ्वीराज राणा से क्षमायाचना वार्ता के सम्बन्ध में पूछता है । पत्रोत्तर में राणा पृथ्वीराज को लिखता है कि उसने कभी सम्राट से क्षमायाचना नहीं की है और वह उसके सम्मुख किसी प्रकार से झुकने के लिए तैयार नहीं है । इस पत्र व्यवहार का सौरभ इतना रोचक है कि यह लोककथा में परिणत हो गया है । यह कहना कठिन है कि इस लोक परम्परा से कविता का सृजन हुआ या इस कविता के माध्यम से लोक परम्परा को जन्म मिला । लोककथाएं ऐतिहासिकता का अतिक्रमण करे रोचक या कारुणिक वर्णनों को प्राथमिकता देती हैं, यह सर्वविदित है । कोई भी समसामयिक हिन्दू का मुस्लिम इतिहासकार प्रताप द्वारा क्षमायाचना के पत्र का उल्लेख नहीं करता । यदि ऐसा होता, तो मुस्लिम इतिहासकार उसके सम्बन्ध में अवश्य लिखते, क्योंकि ऐसी घटना की उपेक्षा किया जाना सम्भव नहीं था, यदि उसमें वास्तविकता होती ।"

एक अन्य विवादास्पद प्रसंग

उपर्युक्त पत्र के समान ही एक अन्य प्रसंग प्रताप की विपन्न अवस्था के सन्दर्भ में है । कहा जाता है कि 1579 ई. में जब शाहबाज खां ने मेवाड़ पर चढ़ाई की तो महाराणा को यायावरों की तरह जंगलों और पहाड़ों में भटकना पड़ा । इस समय प्रताप की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय हो गई थी । उनके सभी सहयोगी वनवासी थे । उनके पास खाने के लिए कुछ भी नहीं रह गया था ।

उन्हें और उनके परिवार के अन्य सदस्यों को घास की रोटियां खानी पड़ी। एक बार उनकी पुत्री के हाथ में रोटी का एक टुकड़ा था। एक वन बिलाव उस टुकड़े को छीनकर ले भागा। वह बिलखती रह गई। इस घटना को देखकर प्रताप विचलित हो उठे। उनकी आंखों से आंसू आ गये। इससे प्रताप का संकल्प डगमगा गया और वह अकबर की अधीनता स्वीकार करने को सहमत हो गये।

इस घटना का समर्थन भी किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ या मेवाड़ राजवंश के विषय में लिखे गए काव्य ग्रन्थ से नहीं होता। केवल कर्नल टॉड ने इसका उल्लेख किया है, किन्तु टॉड को इसका स्रोत कहां से मिला, इसका उसने कोई उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम तो प्रताप का पहाड़ी क्षेत्रों में सदा अधिकार बना रहा। इन क्षेत्रों के बीच-बीच में उपजाऊ भूमि भी है। साथ ही प्रताप की लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि आस-पास के ग्रामवासी उनकी सहायता करते थे। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वह अपने पूर्वजों द्वारा संचित कोष को भी अपने साथ ले गये थे। यदि वह इस प्रकार की दयनीय अवस्था में होते तो अनवरत रूप में अवसर मिलते ही मुगलों का सामना कैसे करते रहते और सबसे बड़ी बात यह कि प्रताप की कोई पुत्री थी ही नहीं। इस कथा की निरर्थकता को सिद्ध करते हुए डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है-

"यह सारा किस्सा अतिशयोक्तिपूर्ण और कपोल कल्पनामात्र है क्योंकि महाराणा को ऐसी कोई विपत्ति नहीं सहनी पड़ी थी। उत्तर में कुम्भलगढ़ से लेकर दक्षिण में ऋषभदेव तक (लगभग 90 मील लम्बा) और पूर्व में देवारी से पश्चिम में सिरोही की सीमा तक लगभग 70 मील चौड़ा पहाड़ी प्रदेश, जो एक के पीछे एक पर्वत श्रृंखलाओं से भरा है, महाराणा के ही अधिकार में था। महाराणा तथा सामन्तों की स्त्रियां और बाल-बच्चे आदि इसी सुरक्षित प्रदेश में रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए अन्न आदि लाने के लिए गोडवाड़, सिरोही, ईडर और मालवे की ओर से मार्ग खुले हुए थे। उक्त पहाड़ी प्रदेश में जल तथा फलवाले वृक्षों की बहुतायत होने के अतिरिक्त, बीचों-बीच में कई जगह समतल भूमि भी थी, और वहां सैकड़ों गांव आबाद थे। इसी प्रकार वहां कई पहाड़ी किले तथा गढ़ बने हुए थे। पहाड़ियों पर हजारों मील की बस्तियां थीं। वहां मक्का, चावल, घना आदि अन्न अधिकता से उत्पन्न होते थे। घी, दूध आदि पदार्थ सरलता से मिल जाते थे। ऐसे ही छप्पन तथा बासनी से लेकर थर्यावद से आगे तक का समस्त पहाड़ी प्रदेश भी महाराणा के अधिकार में था। केवल मेवाड़ का उत्तर-पूर्वी प्रदेश ही शाही सेना से घिरा हुआ था। इतने बड़े पहाड़ी प्रदेश को घेरने के लिए लाखों की संख्या में सेना की आवश्यकता थी। वह अपने सरदारों के साथ विस्तृत पहाड़ी प्रदेशों में भयहीन होकर रहते थे और उनके हजारों स्वामिभक्त और वीर भील लोग बन्दरों की तरह पहाड़ लांघने में कुशल होते थे, शत्रु सेना की 40-50 मील दूर तक की हलचलों की खबरों को सात-आठ घंटों में ही उनके पास पहुंचा देते थे। राणा अपने राजपूतों सहित पहाड़ों की ओट में घात लगाये रहते और अवसर पाते ही उन पर टूट पड़ते। भील महाराणा की सेवा करने के अतिरिक्त मौका मिलते ही शाही सेना की रसद भी लूट लिया करते तथा महाराणा और सरदारों की स्त्रियों की रक्षा भी करते। इसी कारण शाहबाज खां एक बार भी मेवाड़ में अधिक दिन तक नहीं टिक सका और मुख्य-मुख्य जगहों पर बड़ी सेना

के साथ थाने बिठाकर लौट गया । महाराणा इन थानों पर बराबर हमला कर उन्हें उठाते रहे । कर्नल टॉड ने महाराणा की विपत्ति का जैसा चित्र खींचा है, यदि वह सच होता, तो अबुलफजल जैसा लेखक, जो पग-पग पर बादशाह की प्रशंसा करता है और थोड़ी-सी बात को बढ़ा-चढ़ाकर लिखता है, इस बात को राई का पहाड़ बनाकर लिखता । परन्तु अकबरनामा या फारसी तवारीख में इसका कहीं भी वर्णन नहीं है कि कष्टों और विपत्तियों को न सह सकने के कारण राणा ने अकबर को अधीनता स्वीकार करने के लिए उसे पत्र लिखा । यह सत्य है कि उदयपुर अथवा गोले के राजमहलों जैसा आराम वहां नहीं था, और शत्रु से लड़ने की चिन्ता सदा लगी रहती थी ।”

प्रताप को कभी आर्थिक संकटों का सामना नहीं करना पड़ा । उनके पूर्वजों राणा कुम्भा तथा राणा सांगा ने अतुल सम्पत्ति अर्जित की थी । यह समस्त सम्पत्ति मेवाड़ पर बहादुरशाह के पहले आक्रमण से पूर्व ही चित्तौड़ से हटा ली गई थी । अतः बहादुरशाह अथवा अकबर कोई भी आक्रान्ता इसे नहीं प्राप्त कर सके थे । यद्यपि उदयसिंह अथवा प्रताप को सम्पत्ति अर्जित करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु पूर्वजों के अर्जित इस कोष को उन्होंने सदा सुरक्षित रखा । मुगलों के साथ आक्रमणों के समय इस कोष को भामाशाह के नियन्त्रण में गुप्त स्थान पर रखा जाता था । वह इसका पूर्ण विवरण अपनी बही में रखता था तथा आवश्यकता पड़ने पर व्यय करता था । अपनी मृत्यु के समय उसने यह बही अपनी पत्नी को दे दी थी और इसे अमरसिंह के पास पहुंचा देने का अनुरोध किया था ।

बाद में अमरसिंह ने जहांगीर से सन्धि कर ली । सन्धि के समय अमरसिंह ने शहजादा खुर्रम (बाद में शाहजहां) को एक लाल भेंट किया था जिसका तत्कालीन मूल्य साठ हजार रुपये था । (यह लाल राठौर शासक राव मालदेव के पास था । उसके पुत्र चन्द्रसेन ने इसे संकट के समय उदयसिंह को बेच दिया था ।) इसके अतिरिक्त जब शहजादा खुर्रम दक्षिण जाते समय उदयपुर में रुका, तो उसे अमरसिंह ने पांच हाथी, सत्ताईस घोड़े तथा बहुमूल्य रत्नों और रत्न जड़ें आभूषणों से भरा एक थाल भेंट किया था । हां यह बात अलग है कि खुर्रम ने तीन घोड़ों के अतिरिक्त वस्तुएं अमरसिंह को वापस कर दीं ।

अमरसिंह के बाद उसका पुत्र जगतसिंह सिंहासन पर बैठा । उसने उदयपुर में जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण कराया, जिसमें लाखों रुपये व्यय किए । उसने कल्पवृक्ष दान किया । कल्पवृक्ष दान में केवल रत्नों से कल्पवृक्ष बनाया जाता है वह प्रारम्भ में अपने प्रत्येक जन्मदिन पर चांदी का तुलादान (अपने भार के बराबर) करता था, किन्तु सन् 1648 से वह इस अवसर पर सोने का तुलादान करने लगा । उसके बाद उसका पुत्र राजसिंह मेवाड़ का शासक बना । अपने अभिषेक के वर्ष सन् 1652 ई. में उसने एकलिंग के मन्दिर में रत्नों का तुलादान किया । समस्त भारतीय इतिहास में रत्नों के तुलादान का यही एकमात्र उदाहरण है । उसने राजसमुद्र सरोवर का निर्माण कराया । जिसमें लगभग एक करोड़ छः लाख रुपये व्यय हुए । इन समस्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ राजघराने की यह सम्पत्ति पूर्व संचित थी, इसे अमरसिंह, जगतसिंह अथवा राजसिंह ने केवल अपनी सामर्थ्य से संचित नहीं किया था । अतः महाराणा प्रताप को मुगलों के

साथ संघर्ष के समय नितान्त विपन्न मानना सर्वथा अनुचित है ।

महाराणा प्रताप के विषय में एक बात और कही जाती है कि उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि वह सोने-चांदी के बर्तनों के स्थान पर पत्तलों में भोजन करेंगे, घास-पात के बिस्तरों पर सोएंगे इत्यादि । इस सब बातों को काल्पनिक सिद्ध करते हुए डॉ. ओझा ने लिखा है-

“उदयपुर के महाराणाओं की भोजन की रीति यह है कि प्राचीन शैली के अनुसार फर्श को धोकर उस पर धुला हुआ श्वेत वस्त्र बिछाया जाता है । जिस पर बाजोट (छः पांवों वाली षट्कोण या चार पांवों वाली चतुष्कोण चौकी, जो प्रायः नौ इंच ऊंची होती है) रखा जाता है । उस पर पत्तल और पत्तल पर थाल रखा जाता है । कर्नल टॉड के अनुसार यह पत्तल उक्त प्रतिज्ञा के निमित्त नहीं, अपितु भोजन की प्राचीन पद्धति का चिन्हमात्र है । प्राचीनकाल में भोजन पत्तलों पर ही होता था । उनके बिस्तरों के नीचे घास कभी नहीं रखी जाती थी ।”

एक अन्य किंवदंती के अनुसार गाडोलिया लौहार भी महाराणा की प्रतिज्ञा से जोड़े जाते हैं । ये लोग अपने परिवारों के साथ बैलगाड़ियों में सामान लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर डेरा लगाते हुए घूमते रहते हैं । चाकू छुरिया आदि वस्तुएँ बनाते इनके परिवार राजस्थान, पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश आदि में सड़कों के किनारे डेरा जमाये देखे जा सकते हैं । माना जाता है कि प्रताप के समय में जब मेवाड़ पर मुगलों का आक्रमण हुआ और चित्तौड़ खाली करना पड़ा, तो ये लोग महाराणा की विजय तक घूमते रहने के लिए घरों से निकल पड़े और तब से भटकते रहते हैं । वस्तुतः इसका प्रमाण नहीं मिलता । उस समय सभी को चित्तौड़ छोड़ना पड़ा था, किन्तु किसी भी अन्य समुदाय ने ऐसा घुमन्तु जीवन नहीं अपनाया ।

हल्दीघाटी युद्ध के बाद महाराणा प्रताप का अधिकांश समय पहाड़ों में ही व्यतीत हुआ । यही जीवन उनके भव्यतम इतिहास का चरम बिन्दु है । यहीं उनके अपूर्व देशप्रेम, कुशल राजनीति, अद्भुत मनोबल तथा उत्साह के दर्शन होते हैं । हल्दीघाटी की पराजय को प्रताप ने कभी स्वीकार नहीं किया । वस्तुतः इसी पराजय के बाद उनकी युद्धनीति का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है । गोगूदा में बार-बार आक्रमण करके वह मुगलों को इसी के ‘आस-पास उलझाकर मुगलों की शक्ति को क्षीण कर उनके मनोबल को नष्ट कर देना चाहते थे । वह केवल रोक-थाम के ही पक्ष में नहीं थे । उन्होंने कुम्भलगढ़ के पास से सहाड़ा तक तथा गोडवाड़ से आसींद तक समस्त पर्वतीय प्रदेशों में परम विश्वस्त और वीर भीलों को लगाया हुआ था, जो तत्परता के साथ अपना कर्तव्य निर्वाह करते थे । उन्हीं के सहयोग से शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता था और यदि शत्रु प्रवेश का विचार करता भी तो इसकी सूचना महाराणा को मिल जाती और वह वहां से अन्यत्र चले जाते ।

मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य के निर्वाह के कारण महाराणा ने अपने सुखमय जीवन को त्याग दिया । वन्य जीवन की कठिनाइयों को ही उन्होंने अपने जीवन का अंग बना लिया था । यह कायरता नहीं वरन् उनकी कुशल राजनीति ही थी । उनकी इस नीति में मुगलों से सीधी टक्कर को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था । यही कारण था कि परम शक्तिशाली मुगल सम्राट मेवाड़ को स्थायी रूप से अपने प्रभुत्व में लाने में सफल नहीं हुआ । वन्य जीवन में उन्होंने प्रजा

से अपने सम्बन्ध आत्मीयतापूर्ण बना लिए थे । उनके प्रबल त्याग, कठोर अनुशासन तथा कष्टपूर्ण जीवन का प्रजा पर प्रेरणाप्रद प्रभाव पड़ता था, अतः जनता की उनके लिए एक सहज भक्ति उत्पन्न हो गई थी । जनता का अनुराग ही किसी शासक की स्थिरता का कारण होता है, इस तथ्य से महाराणा भली-भांति परिचित थे । इसीलिए उनकी प्रजा उनके एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते समय मुगल दण्ड की परवाह किए बिना उनके ठहरने की सहर्ष व्यवस्था कर देती थी ।

जून 1576 से 1685 के उत्तरार्द्ध तक महाराणा पर्वतों में एक से दूसरे स्थान पर भटकते रहे, किन्तु फिर भी उन्होंने मुगल सम्राट के समक्ष समर्पण नहीं किया । अन्त में उनके दिन फिरे; मुगल सम्राट का मेवाड़ अभियान क्षीण होने लगा । महाराणा पुनः मेवाड़ को पूर्णतया मुगल प्रभाव से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील हो गये ।

षष्ठ अध्याय

फलागम और अवसान

जगन्नाथ कछवाहा को भी अपने मेवाड़ अभियान में विशेष सफलता नहीं मिली । इससे मुगल सम्राट को विश्वास हो गया कि महाराणा प्रताप को पकड़ पाना अथवा उनसे अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार कराने का प्रयत्न बेकार है । साथ ही सन् 1579 से 1585 तक पूर्वी-उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार तथा गुजरात के मुगल अधीन क्षेत्रों में विद्रोह होने लगे थे । फलतः अकबर उधर उलझा रह गया । इसके बाद अकबर उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा पंजाब के विद्रोहों को दबाने में व्यस्त हो गया । इन कारणों से मेवाड़ पर मुगल सम्राट का दबाव कम हो गया । जगन्नाथ कछवाहा का आक्रमण मेवाड़ पर प्रताप के समय में अन्तिम आक्रमण सिद्ध हुआ ।

ये सभी परिस्थितियां महाराणा प्रताप को अपने अनुकूल लगने लगीं । उन्हें अपना लक्ष्य निकट ही दिखने लगा । प्रताप इन स्वर्णिम अवसर को गंवाना नहीं चाहते थे ।

हल्दीघाटी युद्ध के बाद ही महाराणा प्रताप ने अनुभव किया कि मेवाड़ को स्वतन्त्र कराने के लिए मुगलों से सीधा सामना करना ही पर्याप्त नहीं होगा, अपितु इसके लिए पड़ोसी राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध भी आवश्यक हैं । मेवाड़ पर मुगलों की सत्ता स्थापित हो जाने से इन राज्यों की प्रभुसत्ता भी सुरक्षित नहीं रह सकती थी । प्रताप ने इसी बिन्दु को ध्यान में रखकर उनसे मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने आरम्भ कर दिए । इन राज्यों पर मुगल सत्ता का स्थापित हो जाना मेवाड़ की सुरक्षा के लिए भी घातक था ।

ईडर, सिरोही, डूंगरपुर, बूंदी तथा बांसवाड़ा प्रताप के सहयोगी राज्य थे । यद्यपि कभी-कभी ये मुगल पक्ष में भी चले जाते थे, किन्तु अनुकूल स्थिति होते ही इनका सहयोग प्रताप को मिलने लगता था । ईडर राज्य का शासक राव नारायणदास प्रताप का सम्बन्धी बन गया था । इस प्रकार प्रताप ने मेवाड़ के लिए एक सुरक्षा पंक्ति का निर्माण कर लिया था ।

राठौरों पर प्रभुसत्ता

प्रताप के विरुद्ध मुगलों का अभियान भी चल रहा था और प्रताप अवसर मिलते ही पुनः मुगलों को खदेड़ देते थे । प्रताप को इन युद्धों में उलझा देख कुछ आन्तरिक विद्रोही शक्तियां अपनी शक्ति बढ़ाने लगी थी । छप्पन के राठौरों ने इस अवसर का लाभ उठाने की चेष्टा की । उन्होंने मगरा जिले के दक्षिण-पश्चिमी भाग में अपनी शक्ति बढ़ाना आरम्भ कर दिया ।

महाराणा के लिए यह एक नई विपत्ति थी । इसी समय जगन्नाथ कछवाहा भी मेवाड़ अभियान पर था । एक ओर वह कछवाहा के अभियान का सामना कर रहे थे, दूसरी ओर राठौर विद्रोह पर उतर आये थे । महाराणा ने राठौरों का दमन करना आवश्यक समझा । अतः 1585 ई. में वह मगरा के दक्षिण-पश्चिम को चल दिये । वहां उन्होंने राठौरों का दमन किया । उनका नेता लूणा चावण्डिया पराजित हो गया तथा वहां राणा की सत्ता स्थापित हो गई । सराड़ा के निकट सूरखण्ड गांव के एक शिलालेख में इस घटना का उल्लेख किया गया है ।

अधिकांश मेवाड़ □ पर अधिकार

अकबर के अन्य स्थानों पर व्यस्त होते ही मेवाड़ पर मुगलों का दबाव कम हो गया था । अतः महाराणा ने 1585 ई. में मेवाड़ मुक्ति के प्रयत्न तेज कर दिए । अमरसिंह के नेतृत्व में मेवाड़ की सेना अपने लक्ष्य पर निकल पड़ी । इस सेना ने मुगल चौकियों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये । मुगल सेना भागने लगी और शीघ्र ही उदयपुर, मोही, गोमन, माण्डल, पिण्डवाडा आदि 36 महत्वपूर्ण स्थानों पर महाराणा का आधिपत्य स्थापित हो गया । एक वर्ष के अन्दर ही उत्तर-पश्चिमी, उत्तर-पूर्वी तथा मध्यवर्ती मेवाड़ में स्थापित सभी मुगल चौकियां खाली हो गई । केवल चित्तौड़, माण्डलगढ़ और उनके उत्तर-पूर्व में मुगलों का अधिकार बना रहा । महाराणा प्रताप जिस समय सिंहासन पर बैठे, उस समय जितने मेवाड़ पर उनका अधिकार था, लगभग उतने ही भू-भाग पर पुनः उनकी सत्ता स्थापित हो गई । बारह वर्षों तक संघर्ष होने के बाद भी अकबर उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सका ।

इसके बाद महाराणा प्रताप ने मानसिंह तथा जगन्नाथ कछवाहा को सीख देने के लिए आमेर के क्षेत्रों पर भी आक्रमण कर दिया तथा इसके एक सम्पन्न नगर मालपुरे को लूटा । और नष्ट कर दिया । बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर पर मुगलों की सत्ता स्थापित हो गई थी, इसलिए इन दोनों राज्यों को भी अपने अधीन कर लिया गया ।

यह समय मेवाड़ के लिए एक स्वर्णिम काल सिद्ध हुआ । महाराणा दीर्घकालीन संघर्ष के बाद अधिकांश मेवाड़ को मुक्ता करने में सफल हुए । इस विषय में डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कथन है-

"सन् 1585 ई. का समय प्रताप के विषम जीवन का एक स्वर्णिम काल है । इस समय तक मुगलों का आतंक सा हो गया था । जगन्नाथ कछवाहा का मेवाड़ पर संभवतः अन्तिम आक्रमण था, क्योंकि सम्राट का ध्यान मेवाड़ से हटकर अब उत्तर-पश्चिमी सीमा के प्रदेशों व पंजाब की आवश्यक समस्याओं की ओर लग रहा था । प्रताप ने इस विराम अवधि में पुनः उत्तर-पश्चिमी, उत्तर-पूर्वीय तथा केन्द्रीय मेवाड़ के भाग की मुगल चौकियों पर हमला करना आरम्भ कर दिया । उसने कुंवर अमरसिंह की सहायता से 36 स्थानों से, जिनमें मोही, गोगूदा, माण्डल, पिण्डवाडा आदि मुख्य थे, मुगलों को निकाल दिया । मेवाड़ के प्रमुख स्थान प्रताप के हाथ में आ चुके थे । "

गोगूदा में सभा

विजय की प्रसन्नता के अवसर पर महाराणा ने गोगूदा में एक विशाल सभा का आयोजन किया। इस सभा में महाराणा, उनके सामन्तों तथा सैनिकों ने भाग लिया। इसमें संघर्ष के समय महाराणा का साथ देने वाले वीरों को तथा युद्धों में अपने प्राणों से हाथ धोने वाले वीरों के उत्तराधिकारियों को अनेक पुरस्कार दिये गये। मेवाड़ के कई भाग वीरान हो गये थे। उन्हें फिर से बसाने की घोषणा की गई।

नई राजधानी चावण्ड

इसी समय महाराणा प्रताप ने अपने राज्य की नई राजधानी चावण्ड का निर्माण कराया। यह क्षेत्र छप्पन के शासक चावण्डिया से जीता गया था। इसी के चावण्ड गांव को राजधानी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यहां चारों ओर घने वन तथा पर्वत मालाएं थीं। अतः इसे सुरक्षा की दृष्टि से राजधानी के लिए सर्वथा उपयुक्त समझा गया। चावण्ड के समीप कृषि योग्य भूमि भी थी। यह स्थान सुरक्षा के साथ ही शान्तिकाल के लिए भी अनुकूल था। इसके साथ ही यह मेवाड़ के मित्र राज्यों के समीप तथा मुगलों की पहुंच से दूर पड़ता था। निश्चय ही इस सुरक्षित स्थान को राज्य की राजधानी बनाना महाराणा की दूरदर्शिता का परिचायक है।

चावण्ड में नवीन निर्माण कार्य किया गया। भव्य राजमहल बने। इन महलों की निर्माण शैली राणा कुम्भा तथा राणा उदयसिंह की निर्माण शैली से साम्य रखती है। इनके निर्माण में आकार प्रकार और समय की आवश्यकता पर पूरा ध्यान दिया गया। आज भी इनके भग्न अवशेषों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि इनके निर्माण में युद्ध काल की भयावता का स्पष्ट प्रभाव है। प्रत्येक स्थान पर सुरक्षा, सुदृढ़ता आदि का समुचित ध्यान रखा गया है।

राजप्रसाद के पास ही सामन्तों के आवास भी बनाये गये। इनके खण्डहरों से स्पष्ट है कि इनके कमरे राजप्रसाद की तुलना में कुछ छोटे थे। इनमें कुछ छोटे कमरे, चबूतरे तथा खुली घुड़शाल होती थी। मकानों की छतों को बांस और केलू से ढका जाता था। जनसाधारण के लिए कच्चे मकान बनाये गये। राजप्रसाद के ठीक सामने चामुण्डा देवी का मन्दिर है। चावण्ड की स्थापत्य कला के विषय में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है-

“ये महल अपनी मजबूती की दृष्टि से विलक्षण हैं। इनकी निर्माण शैली में उदयसिंह तथा कुम्भा के समय की निर्माण शैली की झलक है। यहां के भग्नावशेषों की चौपालों तथा कमरों की बनावट ठीक चित्तौड़ के कंवर पदों की महलों जैसी है। परन्तु आकार और प्रकार में समय की आवश्यकता को प्रधानता दी गई है। इन महलों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें युद्ध काल की भीषणता झलकती है। हर स्थान में बचाव, रक्षा-सुरक्षा आदि बातों को ध्यान में रखा गया है। सम्पूर्ण राजप्रसाद के स्वरूप में हम प्रताप के कठोर जीवन की झांकी देख सकते हैं। ये महल युद्धकालीन स्थापत्य कला के अच्छे नमूने हैं।”

चावण्ड महाराणा प्रताप की मृत्यु के बाद भी अमरसिंह की जहांगीर से सन्धि के अगले वर्ष

1615 ई. तक मेवाड़ की राजधानी रहा । राजधानी न रहने के बाद भी यह प्रायः दो सौ वर्षों तक साहित्य, कला आदि का केन्द्र रहा । अठारहवीं शताब्दी में यहां लिखे गये अनेक ग्रन्थ इसके प्रणाम स्वरूप हैं । वर्तमान में चावण्ड एक गांव मात्र रह गया है, किन्तु भग्नावशेष आज भी इसके गौरवशाली अतीत की कहानी कहते हैं ।

उजड़ □ स्थानों का पुनर्निमाण

प्रताप ने आरावली की शरण में जाते समय कई स्थानों को उजाड़ दिया था । बाद में मुगलों ने प्रताप का पीछा करते समय प्रताप को न पकड़ पाने पर इस स्थानों को बिल्कुल ही नष्ट कर डाला था । मेवाड़ की स्वतन्त्रता पर इन स्थानों को पुनः बसाना आरम्भ किया गया ।

पीपली, ढोलान, टीकड़ आदि को मुगल सेनाओं ने जलाकर पूर्णतः नष्ट कर डाला था । इन्हें पुनः बसाने के लिए किसानों को नई भूमि दी गई । जिन किसानों की भूमि के पुराने पट्टे खो गये थे, उन्हें पुनः पट्टे दिये गये । व्यापार तथा उद्योगों को प्रोत्साहित किया गया । शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर भी समुचित ध्यान दिया गया । शीघ्र ही मेवाड़ के बंजर पड़े खेत फसलों से लहलहाने लगे । राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई । मेवाड़ के लोग, स्त्रियां, बच्चे वृद्ध सभी निर्भय होकर घूमने लगे । प्रताप एक उच्च आदर्श चरित्र के स्वामी थे । साथ ही अपनी प्रजा पर उन्हें अपार स्नेह था । उनके राज्य में सभी लोग सुख से रहने लगे । अमरसिंह के समय में लिखे गये एक काव्य ग्रन्थ में महाराणा के शासन की सुव्यवस्था, प्रजा की सुख-शान्ति तथा सम्पन्नता का चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है-

“प्रताप ने इस समय तक अपने राज्य में सुख-शान्ति का ऐसा प्रसार कर दिया था कि स्त्रियों और बच्चों को भी किसी का भय नहीं था । प्रजा का चरित्र ऊंचा था और नैतिकता पर सभी की आस्था थी । अतः राज्य द्वारा किसी को दण्ड दिये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था । महाराणा प्रताप ने प्रजा में प्रत्येक की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया । भूमि अत्यन्त उपजाऊ थी । राज्य में अभाव जैसी कोई चीज न रही । सभी को घी, दूध, दही, फल व अन्य खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी । इस शान्तिकाल में मेवाड़ के कई नगर पुनः बसे, जिनमें समृद्ध और राजभक्त प्रजा निवास करती थी ।”

महाप्रयाण

महाराणा प्रताप अपने पिता के समय से ही मुगलों से जूझते रहे । मेवाड़ पर लगे मुगलों के इस ग्रहण का अन्त सन् 1585 में हुआ । इसके बाद प्रताप अपने राज्य की सुख-साधना में संलग्न हो गये, किन्तु दुर्भाग्य से लगभग ग्यारह वर्षों के बाद ही 19 जनवरी 1597 को उनका देहान्त हो गया ।

कर्नल टॉड के अनुसार मृत्यु के समय महाराणा को असीम कष्ट हो रहा था, प्राण नहीं निकल पा रहे थे । कदाचित् उन्हें उस समय भी मेवाड़ की रक्षा की चिन्ता लगी हुई थी । जब

उनके सामन्तों ने उन्हें मेवाड़ की रक्षा का आश्वासन दिया तब महाराणा ने प्राण त्यागे ।

उनकी मृत्यु किस रोग से हुई इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । इस विषय में कहा जाता है कि एक दिन शिकार करते समय असावधानी से उनके पाव में चोट लग गई । निरन्तर संघर्षमय जीवन के कठिन परिश्रम से उनका शरीर वैसे ही दुर्बल हो गया था, अतः इस चोट के बाद वे बीमार पड़ गए और कुछ ही दिनों में उनकी मृत्यु हो गई । अबुलफजल ने अकबरनामा में लिखा है कि अमरसिंह ने महाराणा को विष दे दिया था, जिससे उनकी मृत्यु हो गई । अबुलफजल के इस वर्णन का अन्य किसी भी समकालीन इतिहासकार ने उल्लेख नहीं किया है, अतः उसका यह मत निराधार माना जाता है ।

प्रताप की मृत्यु चावण्ड में हुई न कि पीछोले की पाल पर, जैसा कि टॉड ने लिखा है । मृत्यु के बाद वण्डोली गांव में एक झरने के तट पर उनका अन्तिम संस्कार हुआ । इस स्थान पर राजपरिवार का श्मशान है । बण्डोली चावण्ड से प्रायः डेढ़ मील की दूरी पर है । वहीं पर उनके स्मारक के रूप में एक छोटी सी समाधि है, जिस पर आठ खम्भों वाली एक छतरी है । इस छतरी पर बाद में लगभग सन् 1601 में किसी ने उनकी बहिन के विषय में एक पाषाण लेख लगा दिया, जिससे प्रायः लोगों को भ्रम हो जाता है कि यह महाराणा की नहीं, अपितु उनकी बहिन की समाधि है, जो सत्य नहीं ।

महाराणा की मृत्यु पर अकबर की प्रतिक्रिया

प्रताप की विशिष्टताओं की पर्यालोचना करने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि वह स्वयं ही एक विशिष्टता थे । उनके समकालीन या उनकी बराबरी के किसी राजा का वैसा व्यवहार और चरित्र नहीं था, न ही किसी ने वैसी सफलता पाई । अपने असाधारण देशाभिमान, वीरता और चरित्र की दृढ़ता के कारण प्रताप भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के प्रतीक भी बन गये और उसके संरक्षक भी ।

अकबर महाराणा प्रताप का सबसे बड़े शत्रु था, किन्तु उनकी यह लड़ाई किसी व्यक्तिगत द्वेष का परिणाम न थी, अपितु सिद्धान्तों की लड़ाई थी । साम्राज्यवादी होते हुए भी अकबर गुणग्राही था । महाराणा प्रताप की मृत्यु पर उसे अत्यन्त दुःख हुआ था, क्योंकि हृदय से वह उनके गुणों का प्रशंसक था । इस समाचार से अकबर रहस्यमय रूप में मौन हो गया । उसकी यह प्रतिक्रिया उसके दरबारियों से छिपी न रह सकी, किन्तु कोई कुछ न कह सका । उसी समय उसके एक दरबारी चारण दुरसा आड़ा ने प्रताप के प्रति श्रद्धायुक्त कविता पढ़ी । सभी दरबारियों को विश्वास था कि इससे चारण दुरसा को बादशाह का कोपभाजन बनना पड़ेगा । सभी निर्णय की भय एवं उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे, किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ । अकबर ने चारण को अपने सामने बुलाया तथा उसे पुनः कविता (छप्पन) पढ़ने का आदेश दिया । चारण ने पुनः अपना छप्पन सुनाया, जो इस प्रकार था-

अश लेगो अण दाग, पाग लेगो अण नामी ।

गो आड□। गवडाय, जिको बहतो धुर बामी । ।
नवरोजे नह गयो, नगो आतशा नवली ।
न गो झरोखा हेठ, जेथ दुनियाण दहल्ली । ।
गहलोत राणा जीती गयो, दशन मूंद रशनां डसी ।
नीशास मूक भरिया नयण, तो मृत शाह प्रताप सी । ।

(मारवाड़ी भाषा की कविता का आशय इस प्रकार है-जिसने कभी अपने घोड़ों को शाही सेना में भेज कर दाग नहीं लगवाया (शाही सेना में घोड़ों को दागा जाता था) जिसने अपनी पगड़ी किसी के आगे नहीं झुकाई जो सदा शत्रुओं के प्रति व्यंग्य भरी कविताएं गाता था, जो समस्त भारत के भार की गाड़ी को बायें कन्धे से खींचने में समर्थ था जो कभी नौरोज में नहीं गया, जो शाही डेरों में नहीं गया और जिस अकबर के झरोखे की प्रतिष्ठा विश्व भर में व्याप्त थी, वह उसके नीचे भी नहीं आया । ऐसा गहलोत (महाराणा प्रताप) विजय के साथ मृत्यु के पास चला गया । इसलिए बादशाह अकबर की आंखों में भी पानी भर आया है, उसने आश्चर्य से जीभ दांतों तले दबा ली है । हे प्रताप! तेरे मरने से ऐसा हो गया है ।)

इस छप्पन को सुनने के बाद अकबर ने चारण से कहा कि तुमने मेरे मनोभावों को अच्छी तरह व्यक्त कर दिया है । इस पर उसने चारण को पुरस्कार भी दिया ।

किसी की महानता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि उसके शत्रु भी उसकी प्रशंसा करें । वास्तव में महाराणा प्रताप की मृत्यु से मेवाड़ का ही नहीं, भारत के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया । इस विषय में डॉ. गोपीनाथ शर्मा के निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं

“प्रताप की मृत्यु से एक युग की समाप्ति होती है । राजपूत राजनीतिक मंच से एक सुयोग्य एवं चमत्कारी व्यक्ति चला गया । अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता से उसने अपने पड़ोसी राज्यों से मित्रता सम्बन्ध स्थापित कर चतुराई से मुगलों का ध्यान मेवाड़ से हटाकर उन राज्यों की ओर लगा दिया । यह युक्ति सफल हो गई और मेवाड़ को राजस्थान के विरुद्ध भेजी गई विभाजित सेना का कम भार सहन करना पड़ा । एक आशावादी होते हुए उसने भाग्य को सन्तुलित बुद्धि से सहन किया । साहस और सफलता से उसने अपने सैनिकों को कर्मपरायणता का पाठ पढ़ाया, प्रजा को आशावादी होने की प्रेरणा दी और शत्रु को उसके प्रति सम्मान प्रदर्शन करने की सीख दी ।”

यद्यपि सभी इतिहासकारों ने इसी बात का समर्थन किया है कि हल्दीघाटी युद्ध में पराजय के बाद महाराणा प्रताप सदा मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे और मेवाड़ विजय के बाद जनवरी 1597 में चावण्ड में दिवंगत हुए, किन्तु श्री राजेन्द्र बीड़ा ने अपनी पुस्तक ‘महाराणा प्रताप’ में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संभवतः महाराणा की मृत्यु हल्दीघाटी युद्ध में घायल होने के तुरन्त बाद हो गई थी । उनके इस मत को व्यक्त करने वाली उनकी पुस्तक के कतिपय अंश निम्नलिखित हैं-

“हल्दीघाटी युद्ध (जिसे खमनोर का युद्ध कहना अधिक उपयुक्त होगा) के बाद महाराणा प्रताप के बारे में सही तौर पर नहीं कहा जा सकता कि वे जिन्दा भी थे या नहीं। इतिहास के विद्यार्थी को लगता है कि कहीं महाराणा प्रताप हल्दीघाटी के युद्ध के बाद ही चल न बसे हो। कहीं पीथल और राजा मानसिंह ने उनके नहीं होते हुए भी उनके होने की बात को प्रचलित न रखा हो।”

मुगलों के सतत अभियानों के बाद भी महाराणा प्रताप नहीं पकड़े गए। इस विषय में शंका व्यक्त करते हुए श्री बीड़ा ने लिखा है--

“अकबर की इस खोजबीन के बावजूद प्रताप का कहीं पता न लग पाना इतिहास के विद्यार्थी के मस्तिष्क में सन्देह पैदा करता है कि कहीं महाराणा प्रताप हल्दीघाटी में लगे घावों के कारण मर न गए हों।”

श्री बीड़ा की आशंका सत्य हो सकती है, किन्तु प्रताप को मुगलों द्वारा न पकड़ा जाना ही इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि प्रताप उस समय जीवित ही नहीं थे। मुगल प्रताप ही क्या, उनके किसी सामन्त या अमरसिंह को भी नहीं पकड़ पाए, इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब भी उस समय जीवित नहीं थे।

श्री बीड़ा का मत है कि हल्दीघाटी युद्ध के बाद महाराणा के जो भी संघर्ष बताए जाते हैं उन सभी का संचालन अमरसिंह ने किया, न कि प्रताप ने। उनका यह भी मानना है कि मानसिंह तथा अमरसिंह ने प्रताप के जीवित रहने की कहानी अपने निहित स्वार्थों के लिए रची-

“महाराणा प्रताप की लाश का नहीं मिल पाना ओर मानसिंह का हल्दीघाटी युद्ध के पश्चात राणा का पीछा न करना, ये दो ऐसी बातें हैं, जिसने प्रताप के भूत को बीस साल तक खड़े रखा। इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इसी प्रकार बीरबल की लाश नहीं मिलने पर भी अकबर के समय कई बीरबल खड़े कर दिए गए थे।”

जो भी हो जब तक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि महाराणा प्रताप हल्दीघाटी युद्ध के तुरन्त बाद दिवंगत हो गये थे, तब तक यही मानना पड़ेगा कि उनकी मृत्यु 1597 ई. में हुई थी।

महाराणा प्रताप के पुत्र

महाराणा प्रताप की ग्यारह रानियां थी, जिनसे उनके सत्तरह पुत्र उत्पन्न हुए। उनकी पत्नियों तथा उनसे उत्पन्न पुत्रों का विवरण इस प्रकार

रानियां

1. महारानी अजबादे पंवार
2. महारानी सोलंखिणीपूर बाई
3. महारानी चम्पाबाई झाली
4. महारानी जसोदाबाई चौहाण
5. महारानी फूलबाई राठौर

उनसे उत्पन्न पुत्र

- अमरसिंह और भगवानदास
सहसा और गोपाल
कचरा, सांवलदास और दुर्जनसिंह
कल्याणदास
चांदा ओर शेखा

6. महारानी शाहमतीबाई हाड़ा	पूरा
7. महारानी खीचण आशाबाई	हाथी और रामसिंह
8. महारानी आलमदेबाई चौहान	जसवन्तसिंह
9. महारानी रत्नावतीबाई परमार	माल
10. महारानी अमरबाई राठौर	नाथा
11. महारानी लाखाबाई राठौर	रायभाणा

यह विवरण वीर विनोद के आधार पर दिया गया है । रानियों के साथ जाति सूचक शब्द संभवतः उनके पितृपक्ष को सूचित करते हैं । महाराणा प्रताप की कोई पुत्री नहीं थी, ऐसा इतिहासकारों का भी मानना है ।

इस प्रकार एक युग निर्माता, युग पुरुष महाराणा प्रताप मुगलों से सदा संघर्ष करते रहे । उन्होंने इस संघर्ष के समय न एक क्षण स्वयं चैन लिया और न अपने प्रतिपक्षी अकबर को ही लेने दिया । अकबर के विशाल साम्राज्य की शक्ति भी उनके संकल्प को नहीं डिगा सकी । अंततः वह अपने संघर्ष में विजयी हुए । विजय के बाद उन्होंने मेवाड़ की सभी समस्याओं का समाधान किया । नई राजधानी चावण्ड का निर्माण उनकी कलाप्रियता का परिचायक है । काल ने अल्प समय में ही उन्हें मेवाड़ से छीन लिया । उनके गुणों से अभिभूत होकर शत्रु भी उनकी प्रशंसा करते थे ।

सप्तम अध्याय

मूल्यांकन

महाराणा प्रताप का नाम लेते ही हमारे मन में देशप्रेमी, स्वतन्त्रता उपासक, वीरता के ओज से भरे चेहरे तथा लम्बी मूंछों वाले हाथ में भाला लिए एक अश्वारोही का चित्र उभर आता है । प्रत्येक भारतीय उन्हें एक श्रद्धा का पात्र तथा जन्मभूमि की स्वतन्त्रता के संघर्ष का प्रतीक मानता है । इसके अतिरिक्त उनके चरित्र में एक कुशल राजनीतिज्ञ आदर्श संगठनकर्ता एवं चतुर राजनीतिज्ञ आदि की सभी विशेषताएं विद्यमान थे । यहां उनके इन सभी गुणों पर एक विहंगम दृष्टि डाली जा रही है ।

स्वतन्त्रता के परम उपासक

स्वतन्त्रता न होने पर सभी सुख सुविधाएं अर्थहीन हैं तथा इसके सुरक्षित रहने पर वन्य-जीवन भी सन्तोषप्रद है, प्रताप के जीवन का यही मूलमन्त्र था । इसी को दृष्टि में रखकर उन्होंने जीवनपर्यन्त संघर्ष का मार्ग अपनाया । उस समय के प्रायः सभी हिन्दू राजाओं ने अपने राजमुकुट मुगल सम्राट अकबर के चरणों में रख दिये थे, जिसके बदले में उन्हें जीवन की सभी सुख-सुविधाएं प्राप्त हो गयीं तथा मुगल सम्राट के दरबार में ऊंचे-ऊंचे पद मिले । यदि प्रताप चाहते तो वह भी सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया । यदि वह ऐसा कर लेते, तो आज प्रताप, प्रताप नहीं रहते; वह भी मुगलों के अधीन जीवन-यापन करने वाले अन्य राजपूत राजाओं की तरह भुला दिए जाते ।

भारतीय संस्कृति तथा अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए उन्होंने वनवासी बनना अच्छा समझा, किन्तु दिल्ली दरबार में जाने की कल्पना भी नहीं की । उनकी इसी विशेषता के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए डॉ. रघुवीरसिंह लिखते हैं-

“भारत की राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न करने वाले अकबर के बजाय, अपने छोटे से राज्य मेवाड़ के स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा के लिए मर मिटने वाले राणा प्रताप ही सदा भारतीय स्वतन्त्रता सेनानियों के आदर्श बने रहे ।”

स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रताप को संघर्ष का कठोर मार्ग अपनाना पड़ा । एक स्थान से दूसरे स्थान तक भागते रहना और अवसर मिलते ही शत्रु पर आक्रमण कर देना, यही उनका जीवन बन गया था । उन्होंने अपने इस संघर्ष को मेवाड़ में जनसंघर्ष का रूप देने में सफलता प्राप्त की, जिसमें उन्हें अपनी जनता का सक्रिय सहयोग मिला । मुगलों के साम, दाम, दण्ड और भेद सब

व्यर्थ गये । कहीं भी कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि प्रताप के किसी व्यक्ति ने देशद्रोह का कार्य किया ।

अपने इस संघर्ष से उन्होंने मुगल साम्राज्य को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि जन और धन का बल ही सब कुछ नहीं है । यदि व्यक्ति का आत्मबल ऊंचा हो, तो वह किसी भी विपत्ति का सामना कर सकता है और अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रख सकता है । प्रताप स्वतन्त्रता के परम उपासक थे, वह स्वतन्त्रता के लिए ही जीवित रहे तथा सदा स्वतन्त्र रहे । मुगलों के साथ युद्धों में यद्यपि वह हार गये थे, किन्तु इसे उन्होंने अपनी पराजय नहीं माना । यदि वह इसे पराजय मान लेते, तो संघर्ष मार्ग त्याग देते, अतः हल्दीघाटी अथवा किसी भी अन्य युद्ध में उन्हें पराजित मानना उचित नहीं होगा ।

कुशल संगठनकर्ता

कुशल संगठनकर्ता होना भी महाराणा प्रताप की एक अनन्य विशेषता है । उनके जीवन का एक बहुत बड़ा भाग वनों और पर्वत श्रृंखलाओं में व्यतीत हुआ । वनों की घाटियाँ और गुफाएँ ही उनके लिए राजप्रासाद बने । यह उन्हीं के अद्भुत संगठन का परिणाम था कि वनवासी भीलों ने भी उनके स्वतन्त्रता यज्ञ में अपना अपूर्व योगदान दिया । ये वनों के निवासी गिरिकन्दराओं से अच्छी तरह परिचित थे । सम्भवतः भीलों का सहयोग न मिल पाता, तो महाराणा को वह सफलता नहीं मिल पाती, जो मिली । जो भी हो, यह सत्य है कि भीलों का संगठन कर उन्होंने भरपूर लाभ उठाया । ये भील उनके लिए गुप्तचरों का कार्य करते, सैनिकों का भी तथा प्रहरियों का भी ।

इसके साथ ही प्रताप मुगलों के संघर्ष के समय भी अपने पड़ोसी राज्यों से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे । इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई । उनकी संगठन कुशलता में श्री राजेन्द्रशंकर भट्ट ने लिखा है-

“प्रताप ने मुगल सम्राट का विरोध करने के लिए संगठन तो किया ही साथ ही अपने निकट के राजाओं से भी संबंध स्थापित किये ताकि वे स्वाधीनता के उस संग्राम में आहुति देने को तत्पर रहें । इसमें हिन्दू मुसलमान का सवाल ही नहीं था । यह लड़ाई हिन्दू और इस्लाम धर्मों के बीच नहीं थी । यह तो संघर्ष था साम्राज्यवाद और स्वाधीनता का । यह इसमें जाहिर है कि प्रताप के समर्थकों में मुसलमान शासक भी थे । अकबर के आक्रमण के कारण यदि एक मित्रता का कोई सिलसिला टूट भी जाता तो प्रताप तुरन्त दूसरा सिलसिला कायम कर लेते । जो एक बार प्रताप का हो जाता, वह अकबर के खेमे में जाकर भी मौका पाते ही लौट आता ।”

प्रताप की युद्धनीति

हल्दीघाटी युद्ध में पराजय के कारण प्रायः लोग महाराणा की युद्ध शैली की आलोचना करते हैं और उनकी युद्ध शैली को दोषपूर्ण बताते हैं । इसे सम्पूर्ण रूप में सत्य नहीं कहा जा सकता । इस

युद्ध के बाद प्रताप ने छापामार युद्ध प्रणाली को अपना लिया था, जो अंततः उनकी सफलता का कारण बना। इसी प्रणाली से उन्होंने अकबर जैसे शक्तिशाली शत्रु का एक दशक से भी अधिक समय तक सामना किया। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है--

“हल्दीघाटी की पराजय को महाराणा ने कभी पराजय नहीं माना, वरन् इस पराजय के बाद उसने पर्वतीय जीवन और युद्धनीति का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। गोगूंदे में मुगल सेना को रोकना इस नीति का एक अंग था। यह नीति इस बात का प्रमाण है कि प्रताप की छापामार नीति ने मुगल शक्ति को विफल कर दिया। उसने कुम्भलगढ़ से लगाकर सहाड़ा तक के तथा गोडवाड़ से लेकर आसींद और भैंसरोगढ़ के पर्वतीय नाकों पर भीलों की विश्वस्त पालों के नेताओं को लगा दिया, जो दिन-रात मेवाड़ की चौकसी करते थे और देखते थे कि शत्रु किसी भी भाग से भीतर न घुस सके। इन भीलों के जत्थों के साथ अन्य सैनिक भी थे, जो मुगलों को मेवाड़ में घुसने से रोकते थे। इस सम्पूर्ण व्यवस्था को सफल बनाने के लिए महाराणा को सुखमय जीवन को तिलांजलि देनी पड़ी। वह पहाड़ी कन्दराओं और जंगलों में अपने परिवार के साथ घूमने लगा। जीवन की असुविधाओं और कठिनाइयों को अपने जीवन का अंग बना लिया। कभी वह एक पहाड़ी इलाके में था, तो कभी दूसरे। इस पद्धति में जमकर लड़ाई करने को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। फल यह हुआ कि मुगल जो मैदानी लड़ाई के अभ्यस्त थे, इस प्रणाली के मुकाबले कारगर सिद्ध नहीं हो सके।”

उनकी युद्ध प्रणाली में शत्रु का सीधे सामना करना उचित नहीं समझा जाता था, अपितु शत्रु के यातायात के मार्गों को अवरुद्ध कर देना, छिपकर शत्रु पर घात लगाकर हमला कर देना तथा पुनः भाग खड़ा होना इत्यादि रणनीति अपनाई जाती थी। निश्चय ही, इस प्रणाली को अपनाना प्रताप का एक क्रान्तिकारी कार्य था, अन्यथा राजपूतों में यह परम्परा रही थी कि यदि हार निश्चित हो, तो मर मिटो। प्रताप ने इस आत्मघाती सिद्धान्त को सदा के लिए तिलांजलि देकर कुशल रणनीति का परिचय दिया।

आदर्श शासक

महाराणा प्रताप में एक आदर्श शासक के सभी गुण विद्यमान थे। अपने देश की प्रभुसत्ता की रक्षा करना किसी भी शासक का सर्वप्रथम और पुनीत कर्तव्य है। प्रताप से बढ़कर कोई भी व्यक्ति योग्यता की इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अपने राज्य की रक्षा के लिए पड़ोसी राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध अथवा किसी भी प्रकार से उन्हें अपने पक्ष में बनाये रखना भी शासक की योग्यता का एक अभिन्न अंग है। इतिहास साक्षी है कि प्रताप विषम परिस्थितियों में भी सदा इसके प्रति चेष्टा करते रहे। मुगलों के साथ अपने संघर्ष के समय भी उन्होंने राजस्थान के अपने पड़ोसी राज्यों, ईडर, सिरोही आदि से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखे। ईडर का नारायणदास मुगल सम्राट का मित्र बन गया था। प्रताप ने उसे अपने पक्ष में कर लिया। प्रताप की ही प्रेरणा से उसने शक्तिशाली मुगल साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। सिरोही के राव सुरत्राण को उन्होंने अपने पक्ष में कर लिया और उसे अपनी सहायता के लिए भी बुलाया।

जोधपुर के राव चन्द्रसेन को अपने पक्ष में कर लेना भी प्रताप की राजनीतिक कुशलता ही कही जाएगी। इसी चन्द्रसेन ने नाडौल में मुगल सम्राट के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। स्पष्ट है, इसके पीछे प्रताप की ही प्रेरणा थी।

मेवाड़ की स्वतन्त्रता के बाद प्रताप का एक नया ही रूप हमारे सामने आता है। लम्बे संघर्ष के बाद मेवाड़ को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। मुगल संघर्षों से मेवाड़ अस्त-व्यस्त तथा वीरान हो गया था। अतः प्रताप ने इन समस्याओं के निराकरण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने चावण्ड को अपनी नई राजधानी बनाया, जहां सुन्दर भवनों का निर्माण कराया गया। इन भवनों की सुदृढ़ता अद्भुत है। इनकी निर्माण शैली में राणा कुम्भा तथा उदयसिंह की शैली का स्पष्ट प्रभाव है। इनमें युद्धकाल की भीषणता स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। समस्त निर्माण कार्य में आकार प्रकार, समय की आवश्यकता आदि का पूरा ध्यान रखा गया है। इनके भग्नावशेष आज भी कुशल स्थापत्य कला की कहानी कहते हैं।

श्री गोपीनाथ शर्मा ने अपनी पुस्तक 'मेवाड़ मुगल सम्बन्ध' में लिखा है-

“चावण्ड की महिमा इन खण्डहरों में अमिट रूप में प्रकट है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके साथ-साथ यहां ललितकला, वाणिज्य, व्यापार और विद्योन्नति भी होती रही। महाराणा प्रताप तथा अमरसिंह के समय में यहां संस्कृत भाषा को बड़ा प्रोत्साहन मिला, जैसा कि उस समय के कतिपय अन्यो से स्पष्ट है। चित्रकला के सम्बन्ध में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मेवाड़ी चित्रकला का प्रारंभिक यहीं से हुआ है। भागवत के कुछ चित्र देखने को मिलते हैं, जो एक मुस्लिम चित्रकार सिलहादीन द्वारा चित्रित किए गए थे। चित्र में मेवाड़ी शैली का सुन्दर रूप दिखाई देता है। इसमें मानसिक भावों के प्रदर्शन के साथ प्राकृतिक वस्तुओं को भी चित्रित किया गया है। रंगों में सादगी एवं गहराई है। इन चित्रों से स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ी चित्रकला का प्रारम्भिक क्षेत्र चावण्ड रहा होगा।”

संघर्ष के लिए पर्वतीय जीवन अपनाते समय महाराणा ने राज्य के कुछ भागों को खाली करा दिया था। इन स्थानों को मुगल आक्रमणकारियों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। मेवाड़ स्वतन्त्र होने पर महाराणा ने इन्हें पुनः आबाद करना अपना कर्तव्य समझा। पीपली, ढोलान, टीकड़ आदि गांवों को पुनः बसाया गया। इन्हें पुनः हरा-भरा करने के लिए कृषकों को भूमि का नया स्वामित्व दिया गया। पुराने स्वामियों के भूमि के पट्टे बहुधा नष्ट हो गये थे अथवा जला दिए गए थे, उन्हें नवीन पट्टे दिए गए। इस से मेवाड़ की अर्थव्यवस्था में नवीन प्राणों का संचार हुआ। सामान्य जन-जीवन, व्यापार, उद्योग-धन्धे आदि शनैः-शनैः पूर्व स्थिति में आ गए।

राजनीति के आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य ने एक योग्य शासक में सतत क्रियाशीलता, विपत्तियों में धैर्य धारण करना, सच्चरित्रता, वीरों-विद्वानों का सम्मान करने वाला इत्यादि लक्षण बनाये हैं। महाराणा प्रताप में इन सभी गुणों को देखा जा सकता है। अपनी सतत क्रियाशीलता तथा विपत्तियों में भी स्थिरता के कारण वह इतने दीर्घ काल तक शत्रुओं से संघर्ष करते रहे और अंततः अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल रहे। प्रताप के जीवन का अवलोकन करने पर कहीं पर भी कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जो उनके अति उज्ज्वल चरित्र पर कोई धब्बा

लगाए। इस गुण का उनके पिता उदयसिंह तथा पुत्र में भी अभाव था। उदयसिंह ने अलवर के शासक हाजी खां की दुर्दिनों में सहायता की थी और अपने इस उपकार के बदले में उसकी प्रेमिका की मांग करने में नहीं चूके थे। सभी सामन्तों द्वारा इसका विरोध होने पर भी उसने हाजी खां के विरुद्ध आक्रमण कर दिया था और युद्ध में पराजय का मुंह देखना पड़ा। अमरसिंह तो विषयासक्ति के कारण कृतघ्नता की सीमाएं भी लांघ गया। भामाशाह और उसके भाई ताराचन्द्र ने विपत्ति के समय में भी महाराणा की निरपेक्ष भाव से सेवा और सहायता की थी। महाराणा प्रताप के देहावसान पर अमरसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे। उस समय ताराचन्द्र गोडवाड़ का सामन्त था। उसने एक अद्वितीय सुन्दरी खवासन रखी थी। अमरसिंह ने उसकी सुन्दरता के विषय में सुना, तो उसकी मांग कर दी, जिसे ताराचन्द्र ने अस्वीकार कर दिया। क्रोधित होकर अमरसिंह ने ताराचन्द्र को उदयपुर बुलाकर उसकी हत्या करवा दी।

इनके विपरीत महाराणा प्रताप उज्ज्वल चरित्र के धनी थे। इन्द्रियजयी मनुष्य अपनी समस्त इच्छाएं पूर्ण कर लेता है, इस शिक्षा को ध्यान में रखकर प्रताप ने सदा अपने उच्च चरित्र का परिचय दिया। वह भली-भांति जानते थे कि शासक के दुश्चरित्र होने पर भले ही प्रजा सामने उसका विरोध न करे, किन्तु यह अवगुण धीरे-धीरे विद्रोह को जन्म देता है। खानखाना के परिवार की महिलाओं को अमरसिंह ने बन्दी बना लिया था। यह समाचार ज्ञात होने पर महाराणा ने अमरसिंह को आदेश दिया कि बन्दिनी महिलाओं के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न हो और उन्हें ससम्मान उनके घर पहुंचा दिया जाए। ऐसा आदेश देकर महाराणा ने अपने उच्चतम चरित्र का परिचय दिया।

राष्ट्र के प्रति त्याग करने वाले वीरों को सम्मानित करना वस्तुतः राष्ट्र का सम्मान करना ही है। यद्यपि प्रताप के जीवन का अधिकांश समय संघर्षों में ही बीता, और उन्हें अपनी वीर योद्धाओं को सम्मानित करने का अवसर कम ही मिला। मेवाड़ की स्वतन्त्रता पर उन्होंने एक विशाल सभा का आयोजन किया, जिसमें मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाले वीरों को तथा वीरगति प्राप्त करने वालों के उत्तराधिकारियों को अनेक प्रकार से सम्मानित किया गया।

प्रताप की राजनीति में धार्मिक सकीर्णता के लिए कोई स्थान न था। कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि प्रताप ने धार्मिक आधार पर किसी के साथ पक्षपात किया हो। वस्तुतः मुगलों से उनका संघर्ष अपनी रामभूल तो रक्षा के लिए था। इस संघर्ष को हिन्दू धर्म और इस्लाम का संघर्ष नहीं कहा जा सकता है। कैसी अब्दुल बात है कि हल्दीघाटी युद्ध में मुगल पक्ष का सेनापति मानसिंह एक हिन्दू (राजपूत) था और मेवाड़ के हरावल दस्ते का सेनापति हाकिम खां सूर एक मुसलमान था। वस्तुतः यह एक सिद्धान्तों का संघर्ष था। एक ओर मुगल साम्राज्यवाद का अहं था तो दूसरी ओर अपने राज्य मेवाड़ की रक्षा की भावना थी, जो मुगल साम्राज्य को चुनौती दे रही थी।

इस ऐतिहासिक सत्य को स्पष्ट करते हुए डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक (राइज एण्ड फाल आफ मुगल्स) में लिखा है-

“राणा प्रताप की वीरता, उत्कृष्ट देशप्रेम, कष्ट सहने की क्षमता और त्याग को अनेक

आधुनिक लेखकों ने ऐसे तथ्यों से ढक देने का प्रयत्न किया है, जो वास्तविकता से दूर हैं। अबुलफजल और कुछ फारसी लेखकों ने वीरवर राणा की अवहेलना की है, जबकि दूसरों ने अकबर और मानसिंह की निन्दा की है। यह कोई हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न नहीं था। न यह हिन्दू और इस्लाम धर्म का संघर्ष था। यह तो सीधे-सीधे मुगल साम्राज्य और मेवाड़ के बीच संघर्ष था। यदि ऐसा न होता, तो प्रताप अपने एक सैन्यदल का नेतृत्व हकीम खां सूर को न सौंपते और न अकबर अपनी समस्त सेना का नेतृत्व मानसिंह को देता। जिस भावना ने अकबर को मालवा के बाजबहादुर को, गुजरात के मुजफ्फर को, बंगाल के दाउद को, सिन्ध के मिर्जा जानीवेग को और काश्मीर के युसुफ को पराजित करने के लिए प्रेरित किया, उसी ने उसे मेवाड़ से टक्कर लेने की प्रेरणा भी दी। यदि मेवाड़ का शासक कोई मुसलमान भी होता, तो तब भी अकबर यही करता। इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता कि मेवाड़ पर आक्रमण के पीछे राजनीतिक के अतिरिक्त कोई दूसरा उद्देश्य था। साम्राज्यवाद को उचित कहें अथवा अनुचित, किन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने उसे वैसी ही मान्यता दी, जैसी यूरोपियनों ने।”

डॉ. धीरेन्द्रस्वरूप भटनागर ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है-

“प्रताप की नीति में संकीर्णता कहीं नहीं थी। उसकी लड़ाई सिद्धान्तों की लड़ाई थी। उसे इस्लाम से वैर नहीं था। हल्दीघाटी के युद्ध में उसकी आधी सेना का संचालन हकीम खां सूर अफगान ने किया था, जिसने मुगल सेना के हरावल पर सफल आक्रमण किया, तथा उसके बाद भी जालौर के ताज खां ने उसका साथ दिया था। उसकी मुगल विरोधी नीति उन मूलभूत अधिकारों के लिए थी, जिनकी हमेशा श्रेष्ठ और निर्भीक व्यक्तियों ने कद्र की है। प्रताप की नीति से मेवाड़ का राजपूताने में ही नहीं, सारे देश में आदर बढ़ा और मुगल भी मेवाड़ को आदर की दृष्टि से देखने लगे।”

धर्म का राजनीति में हस्तक्षेप महाराणा और अकबर दोनों ही अनुचित समझते थे, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा ने उन्हें संघर्ष के लिए प्रेरित किया। उनका ऐसा करना उचित था अथवा नहीं, यह प्रश्न विवाद का विषय हो सकता है।

विभिन्न विद्वानों की दृष्टि में प्रताप

महाराणा प्रताप भारतीय इतिहास के एक ऐसे नायक हैं जिनकी अनन्य विशिष्टताओं के कारण भारतीय ही नहीं अनेक पाश्चात्य लेखकों तथा कवियों ने भी उन पर अपनी लेखनी उठाई है तथा अपने काव्य का विषय बनाया है। यहां कतिपय विद्वानों द्वारा उनके विषय में व्यक्त किये गये विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

मूर्धन्य इतिहासकार डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने महाराणा के त्याग देशप्रेम आदि गुणों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए लिखा

“प्रातः स्मरणीय, हिन्दूपति, वीर शिरोमणि राणा प्रताप का नाम राजपूताने के इतिहास में सबसे

अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह स्वदेशाभिमान, स्वतन्त्रता का पुजारी, रणकुशल, निस्वार्थ, नीतिज्ञ, दृढ़ प्रतिज्ञ, सच्चा वीर, उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका प्रण था कि वप्पा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकाएगा। वह कहा करता था कि राणा सप्तम और मेरे बीच और कोई न होता, तो चित्तौड़ कभी भी मुगलों के हाथों में न जाता। वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा, जब चित्तौड़ तथा समस्त समतल भूमि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ के बड़े बड़े सरदार मारे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में उसके विरुद्ध बादशाह अकबर ने उसका विध्वंस करने के लिए अपना सम्पूर्ण बुद्धिबल, धनबल और बाहुबल लगा दिया था। यदि महाराणा चाहता तो, वह भी अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता और अपने वंश की पुत्री उसे देकर साम्राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था। परन्तु स्वतन्त्रता का वह पुजारी देशभक्त और कर्तव्य परायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गया। इन्हीं गुणों से उस समय के सबसे अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न सम्राट अकबर को वर्षों तक हैरान करता रहा और उसके अधीन नहीं हुआ। वह सच्चा क्षत्रिय था। शिकार के लिए जाते हुए मानसिंह पर धोखे एवं छल से हमला न कर और अमरसिंह द्वारा पकड़ी गई बेगमों को सम्मानपूर्वक लौटाकर उसने अपने विशाल हृदय का परिचय दिया। अकबर की कूटनीति का यदि कोई उत्तर देने वाला था, तो प्रताप ही। संसार में जब तक वीरों की पूजा होती रहेगी, तब तक महाराणा प्रताप का उज्ज्वल और अमर नाम लोगों को स्वतन्त्रता और देशभक्ति का पाठ पढ़ाता रहेगा।”

अकबर समग्र भारत का एकछत्र सम्राट बनना चाहता था, किन्तु महाराणा प्रताप ने उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया। क्या अकबर की इस इच्छा को भारत को एकता के सूत्र में गूँथने का प्रयत्न कहा जा सकता है? प्रताप ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की, क्या उनके इस कार्य को भारत की एकता में बाधा माना जाएगा? इन प्रश्नों का विश्लेषण करते हुए डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘मेवाड़ मुगल संबंध’ में लिखा है-

“इसमें सन्देह नहीं कि वह एक महान योद्धा था, फिर भी यह शंका उठती है कि क्या उसकी संघर्ष नीति जनता के लिए उपयोगी सिद्ध हुई? अथवा वह मेवाड़ को विनाश की ओर ले जाने वाली सिद्ध हुई? एक दृष्टि से यह तो अकबर जैसे महान व उदार शासक की भारतीय राजनीति और सांस्कृतिक एकीकरण की महती नीति में प्रताप द्वारा व्यवधान उत्पन्न करना अनुचित दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में सम्भावित निर्णय हो सकता है कि यदि प्रताप मुगलों का साथ देता, तो मेवाड़ विनाश से बच सकता था और भारतीय एकता अधिक सुदृढ़ हो सकती थी। और उन्हें अपने वीर योद्धाओं को सम्मानित करने का अवसर कम ही मिला। यदि यही अवसर पहले दिया जाता तो मेवाड़ के पिछड़ेपन में कुछ सुधार लाया जा सकता था। प्रताप की नीति की यह समीक्षा राजनीतिक दृष्टि से उपयुक्त हो सकती है, परन्तु उसका औचित्य प्रताप के आदर्शों के समक्ष नगण्य है। आज भी प्रताप का नाम स्वतन्त्रता के सेनानी के रूप में अमर है, क्योंकि अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए भौतिक लाभों की उपेक्षा करते हुए उसने मुगलों से निरन्तर युद्ध किया और हिन्दुओं के गौरव को बढ़ाया। जब तक हिन्दू जाति जीवित रहेगी, तब तक अपना सर्वस्व बलिदान कर विधर्मियों से युद्ध करने वाले के रूप में उसके नाम को वह

आदर से स्मरण करती रहेगी । स्वतन्त्रता के योद्धा, न्याय के पक्षपाती और नैतिक जीवन के आदर्श के रूप में उसका नाम आज भी लाखों व्यक्तियों के लिए दिन में आशा का बादल और रात में ज्योति स्तंभ बना हुआ है ।”

कुछ इतिहासकारों ने प्रताप के इस संघर्ष को औचित्यहीन सिद्ध किया है । उनके अनुसार महाराणा का यह संघर्ष केवल भावकुतापूर्ण था । उनका यह भी मत है कि राजपूत राजाओं द्वारा मुगल सम्राट की सहायता करना ही तत्कालीन अपेक्षा थी । इस विषय में डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी अपने प्रबल तर्क देते हुए लिखते हैं-

“राणा प्रताप के साहस, दृढ़ निश्चय और अजेय आत्मिक शक्ति के प्रति हमारी चाहे कितनी ही श्रद्धा क्यों न हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह जिस सिद्धान्त पर खड़ा था, वह उससे नितान्त भिन्न था, जिससे राजपूताने के तत्कालीन राजा प्रेरित थे । वह मेवाड़ की स्वतन्त्रता और सिसौदिया घराने के प्रभुत्व के लिए लड़ता रहा पर तो दूसरे राजा सिसौदिया साम्राज्य के पक्ष में प्रेरित नहीं हो सके, क्योंकि मेवाड़ के प्रभुत्व वाले राजाओं की नीति का उन्हें सन्तोषजनक अनुभव नहीं था । यह सिद्ध करने की चेष्टा करना निरर्थक होगा कि अन्य राजपूत कायर हो गए थे और इतने निर्बल थे कि वे भौतिक सुख के लिए अपनी स्वतन्त्रता बेचने को तैयार हो गए । पहले की भांति वे राणा के कन्धे से कन्या भिड़ाकर अकबर के विरुद्ध अवश्य लड़ते, यदि उन्हें घर-बार और धर्म की स्वतन्त्रता और रक्षा के विषय में उससे आशंका होती । अकबर इतना ही चाहता था कि वे नवीन साम्राज्य संघ का प्रभुत्व मान लें, जिसके चार अर्थ होते थे । एक यह कि खिराज के रूप में राजा केन्द्रीय शासन को कुछ रकम देते रहें । दूसरा यह कि वे बाह्यनीति, युद्ध एवं स्वयं की रक्षा का भार केन्द्रीय शासन को सौंप दे । तीसरा यह कि वे आवश्यकता होने पर केन्द्रीय शासन को सैनिक सहायता देते रहें । चौथा यह कि वे स्वयं के केन्द्रीय साम्राज्य का अभिन्न अंग मानें, न कि अलग इकाई बने रहें । इसके बदले बादशाहत में सर्वोच्च पद उनके लिए खुले थे और धर्म या जाति भेद के होते हुए भी पद के आधार पर सबको समान सम्मान प्राप्त था । इस विषय में यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि अकबर ने प्रायः प्रत्येक मुस्लिम राज्य पर पूर्ण अधिकार कर लिया था किन्तु उसने कोई बड़ा हिन्दू राज्य सल्तनत में नहीं मिलाया और मुगल शासन संघ में सम्मिलित होने पर अकबर ने राजपूत राज्यों को सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ आन्तरिक शासन का जो वचन दिया, उसे अस्वीकार करने का कोई बहाना नहीं रह गया था । जो राजपूत राजा निरन्तर युद्ध और अराजकता से दुःखी थे, वे अब नए विधान के अन्तर्गत शान्ति, व्यवस्था और समृद्धि की आशा कर सकते थे । मुगलों का प्रभुत्व उन्हें वह निधि दे सका, जो मेवाड़ पहले कभी नहीं दे सका था । संघ की यह नीति भी नहीं रही कि राजपूतों को अपने रणकौशल तथा प्रशासनिक योग्यता के उपयोग का अवसर न मिले । यह बात भी नहीं है कि मुगल बादशाह ने वैवाहिक सम्बन्धों के लिए राजपूतों को विवश किया, क्योंकि मेवाड़ के चारणों के गीतों के अलावा हमें इस बात का प्रमाण कहीं नहीं मिलता कि वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में कोई व्यापक नीति थी, जो क्रूरता पूर्वक सभी राजपूत राजाओं पर लादी गई । गुजरात, मालवा और दक्षिण के इतिहास में बहुत से ऐसे सम्बन्धों के उल्लेख मिलते हैं । इस बात का हमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता कि अकबर ने इन सम्बन्धों के लिए कोई जबरदस्ती

की या राजपूतों के मध्य इन वैवाहिक सम्बन्धों के विरुद्ध कोई विद्रोह उठा। विवाह में लड़की देने या न देने के विषय में राजपूत स्वतन्त्र रहे। सभी पहलुओं पर विचार करके अधिकांश राजपूत राजाओं ने सच्चे दिलों से मुगल बादशाह के अधीन साम्राज्य संघ में शामिल हो जाना सिसौदियों के प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने के असम्भव लक्ष्य में सहायक होने की अपेक्षा अधिक पसन्द किया, क्योंकि वह प्रयोग कई बार किया जा चुका था। यथार्थ और बुद्धिमानी मुगल साम्राज्य संघ के पक्ष में थी, तो भावुकतापूर्ण अतीतवाद राणा के साथ था।”

अपने इस वर्णन में डॉ. त्रिपाठी ने राजपूतों द्वारा मुगल साम्राज्य की प्रभुसत्ता स्वीकार करने के लिए अन्य राजपूत राजाओं की प्रशंसा की है और इस कार्य को औचित्यपूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। एक ओर उन्होंने महाराणा प्रताप के संघर्ष का उद्देश्य केवल सिसौदिया घराने का प्रभुत्व स्थापित करना माना है, और दूसरी ओर अकबर के साम्राज्यवाद को बड़ी ही सफाई के साथ मुगल शासन संघ और साम्राज्य संघ जैसे शब्दों से सुशोभित किया है। यदि प्रताप का कार्य सिसौदिया वंश का प्रभुत्व स्थापित करना कहा जा सकता है, तो क्या अकबर की विस्तारवादी नीति बाबर वंश का प्रभुत्व स्थापित करना नहीं कही जाएगी? लगता है डॉ. त्रिपाठी इस तथ्य को भूल गए हैं कि अकबर का उद्देश्य भी अपने वंश का राज्य स्थापित करना ही था, न कि गणतन्त्र की जो कि उसमें सहयोग न देना भारत की एकता में बाधक होना कहा जाए। हां यदि अकबर समस्त भारत को एक कर गणतन्त्र की स्थापना कर देता, तो प्रताप का कार्य औचित्यहीन ही कहा जाता। यह सत्य है कि अकबर धर्मनिरपेक्ष शासक था परन्तु क्या वह इस बात की भी गारण्टी ले सकता था कि उसके उत्तराधिकारी भी उसी की नीति पर चलेंगे? क्या उसके उत्तराधिकारी उसकी इस नीति पर अटल रहे ‘क्या बाद में (औरंगजेब के समय में भी) अधीनता स्वीकार करने वाले राजपूत राजाओं के साथ अकबर की ही नीति का पालन किया गया? यद्यपि अधीनता स्वीकार करने वाले शासकों को अपने राज्य के शासन संचालन में पूर्ण स्वायत्तता थी और उन्हें युद्धों में रणकौशल दिखाने का अवसर दिया जाता था, फिर भी क्या वे अकबर की बराबरी का दावा कर सकते थे? क्या युद्धों में रणकौशल दिखाने का अवसर ही सब कुछ है? इन युद्धों में विजय का फल किसे मिलता था? डॉ. त्रिपाठी लिखते हैं कि “अकबर ने प्रायः सभी मुस्लिम राज्यों पर पूर्ण अधिकार कर लिया था, परन्तु उसने कोई बड़ा हिन्दू राज्य सल्तनत में नहीं मिलाया।” इसका क्या अर्थ है? क्या बड़े हिन्दू राज्यों को सल्तनत में मिलाने से अकबर को उनके शासकों से विद्रोह का भय था? यदि नहीं जो इसे संघ कहना कहां तक सही है? एक ही संघ में यह दुहरी नीति क्यों? उपर्युक्त पंक्तियों में अकबर की राजपूत राजकुमारियों से विवाह नीति की भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा की गई है। हम मानते हैं कि अन्तर्जातीय अथवा अन्तर्धार्मिक विवाह अवश्य होने चाहिए, किन्तु अकबर ने केवल राजपूतों से ही विवाह सम्बन्ध क्यों किए? क्या उसने नीचे समझी जाने वाली किसी भी (हिन्दू या मुसलमान) जाति से विवाह सम्बन्ध स्थापित किए थे यदि नहीं तो अकबर की इस विवाह-नीति को केवल उसकी राजनीतिक चाल नहीं कहा जाएगा?

प्रायः पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लोग कुछ नया या विवादास्पद कहना चाहते हैं, इसीलिए डॉ. त्रिपाठी भी नितान्त एकपक्षीय समर्थन कर गये हैं। उन्होंने महाराणा के संघर्ष को

भावुकतापूर्ण अतीतवाद कहकर महत्वहीन सिद्ध करना चाहा है, किन्तु लगता है वह स्वयं भावुकता में बहकर तथ्यों को अनदेखा कर गये हैं ।

यद्यपि डॉ. त्रिपाठी ने उपर्युक्त पंक्तियों में महाराणा प्रताप के संघर्ष की आलोचना की है किन्तु अन्यत्र उन्होंने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्रताप एक वीरगाथा का निर्माण कर गये हैं-

“राजस्थान की हर एक घाटी प्रताप की उपलब्धियों से आलोकित है । हर सच्चे राजपूत के दिल में वह बसे है । जिन्होंने उस प्रदेश में स्वयं विचरण किया है, जहां प्रताप के चमत्कारपूर्ण कार्यों की कहानियां आज भी कही सुनी जाती हैं, जिन्होंने प्राचीन सामन्तों के उन वंशजों से बात नहीं की है, जिनकी आंखें आज भी अपने पूर्वजों की गाथाएं कहते भर आती हैं, वे शायद प्रताप की वीरगाथा को किस्सा कहानी ही समझेंगे । जो लोग अधिक सौभाग्यशाली युग में राज्य का संचालन करते हैं, उन्हें मेवाड़ के राणा की भावनाओं की गहराई का अनुमान लगाना चाहिए, जिसके कारण वह उस समय संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य का सामना करने को तैयार हो गया । उसकी अदम्य वीरता, असीम साहस, निष्ठा और देशप्रेम की भावना के विरोध में थी पराक्रमी सम्राट की गगनचुम्बी महत्वाकांक्षा, चोटी की योग्यता, असीमित साधन और धार्मिक उत्साह की ज्वाला, किन्तु यह सब प्रताप के अपराजेय मस्तिष्क का सामना करने में पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ । अरावली की एक-एक घाटी धन्य हो उठी या तो प्रताप की विजय से या फिर उसकी कीर्तिपूर्ण पराजय से ।”

अपनी पुस्तक ‘महाराणा प्रताप’ में श्री राजेन्द्र शंकर भट्ट लिखते हैं-

“प्रताप की विशिष्टताओं की आलोचना करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि वह स्वयं ही एक विशिष्ट थे । उनके समकालीन या उनकी बराबरी के किसी राजा का वैसा व्यवहार और चरित्र नहीं था, न ही किसी ने वैसी सफलता पाई । अपने असाधारण देशाभिमान, वीरता और चरित्र की दृढ़ता के कारण प्रताप भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के प्रतीक भी बन गये हैं और उसके संरक्षक भी । भौतिक या राजनैतिक दृष्टि से चाहे उन्हें उतने उत्साहजनक परिणाम न मिले हों लेकिन हर प्रत्यक्ष असफलता को उसने कहीं अधिक उपलब्धियों ने ढक सा दिया है ।” सफल न होने पर भी हर लड़ाई के बाद प्रताप ऊपर उठते गये, और अन्त में ऐसी ऊंचाई पर पहुंच गये कि आज इतने वर्षों बाद भी प्रातः स्मरणीय, कहकर याद किया जाता है । ऐसे असाधारण लोगों के व्यक्तित्व का विश्लेषण और उनकी देन का मूल्यांकन उनकी अस्थायी सफल-असफलता के आधार पर नहीं किया जा सकता । उनके पूरे जीवन पर विचार करना होगा । प्रताप उन लोगों में थे, जो हारकर भी जीतते हैं । आज भी स्वतन्त्रता के लिए आत्मोत्सर्ग करने वालों में प्रताप का नाम पहले आता है । प्रताप अगर चाहते तो अकबर से सन्धि करके आराम और चैन की जिन्दगी बिता सकते थे । लेकिन वैसा उन्होंने नहीं किया । जान-बूझकर अपने और अपने परिवार के लिए परिजनों और प्रजाजनों के लिए, सामन्तों और सरदारों के लिए, कष्ट और बलिदान का रास्ता चुना । केवल यही नहीं वे स्वयं ऐसी जीती-जागती प्रेरणा बन गये कि उनके साथियों और अनुचरों ने हंसते-हंसते सारे कष्ट सहे । स्वयं प्रताप के परिवार के

कुछ सदस्य अकबर से जा मिले थे-इनमें उनके भाई शक्तिसिंह, सगर और जगमाल भी थे । लेकिन उनकी संख्या नगण्य थी । प्रताप के राज्य के अधिकांश लोगों ने तो उन्हीं का साथ दिया, और खूब दिया ।”

प्रताप एक कुशल सेनानायक, अच्छे प्रशासक, परम स्वतन्त्रता प्रेमी तथा अन्य महान गुणों से विभूषित थे । उनका अप्रतिम संघर्ष भारतीय जनमानस को प्रेरणा देता रहेगा । एक योग्य सेनापति तथा प्रशासक के गुणों के चर्चा होने पर प्रताप का नाम सदा सम्मान के साथ लिया जाएगा । इस विषय में श्री मिश्रीलाल माण्डोट ने लिखा है-

“प्रताप में एक अच्छे सेनानायक ही नहीं वरन् एक अच्छे व्यवस्थापक की भी विशेषताएं थीं । स्वतन्त्रता के लिए अटल निश्चय, अप्रतिम त्याग और बलिदान ने उसे भारतीय इतिहास का एक अपर व्यक्तित्व बना दिया है । प्रताप को राष्ट्रनायक कहना अनुचित नहीं होगा । प्रताप ने अपने अन्तिम 11 वर्षों में जब, संघर्ष से मुक्ति मिली, उसने मेवाड़ में पुनः सुशासन और व्यवस्था की स्थापना की । प्रताप की 1597 में मृत्यु एक युग की समाप्ति का प्रतीक है ।”

प्रताप का बाह्य व्यक्तित्व भी उनके अन्तर्व्यक्तित्व के समान ही ओजस्वी और प्रभावोत्पादक था । इसका शब्द चित्रण करते हुए डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है-

“ज्यों ही हम प्रताप का स्मरण करते हैं, हमारे सामने उच्च विचारों की दुनिया और संस्मरण का नजारा एकाएक उपस्थित होने लगता है । एक युद्ध का नायक जो डीलडौल से लम्बा और आकृति से वैभवपूर्ण था । उसका ललाट ऊंचा था और आंखों से तेज बरसता था । उसकी मूंछें भरी हुई थीं । उसका सम्पूर्ण शारीरिक ढांचा दृढ़ संकल्प का आभास देता था । समकालीन चित्रों के अनुसार छोटी पगड़ी, पीली लम्बी अंगरखी और कमरबन्ध उसके पहनावे के प्रमुख अंग थे । जंगलों पहाड़ियों और घाटियों में भटकते हुए उसके जीवन चरित्र का निर्माण हुआ था । कष्टों ने उसे धैर्य, शान्ति, साहस और निष्ठा का पाठ पढ़ाया था । उसमें अपने देश के प्रति श्रद्धा और विश्वास अनायास ही जाग्रत हो गये थे । संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रताप के जीवन के प्रारम्भिक वातावरण ने उसमें एक चरित्रबल तथा जीवन का वह दर्शन उत्पन्न कर दिया था, जो उस समय के अन्य राजपूतों की अपेक्षा उसकी विशिष्टता दर्शाता है ।”

वीरता, त्याग, देशप्रेम और निःस्वार्थ भावना से कर्तव्य का पालन करना महान एवं पुरुषोचित गुण हैं, जिनका मानव समाज सर्वत्र और सदा से सम्मान करता आया है । इन गुणों के साथ ही एक अदम्य मनोबल महाराणा प्रताप की सबसे बड़ी विशेषता है । इसी कारण वह उस प्रशंसनीय गौरव को प्राप्त करने में समर्थ हुए, जिसे कोई भी अन्य तत्कालीन शासक नहीं प्राप्त कर सका । इसीलिए प्रताप दिवंगत होने के लगभग चार सौ वर्ष बाद भी भारतीय जनमानस में श्रद्धा के पात्र बने हुए है और भविष्य में भी बने रहेंगे । भौतिक रूप में न रहने पर भी उनका आदर्श भारतीयों को युगों-युगों तक देशप्रेम, स्वतन्त्रता अनुराग, संघर्ष आदि की प्रेरणा देता रहेगा । अन्त में सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा. सम्पूर्णानन्द के शब्दों में-

“कुछ लोगों के सम्बन्ध में लोक में ऐसा विश्वास है कि वह लोग सदा अमर हैं; अर्थात् एक

कल्प तक जीवित रहेंगे । इस बात पर विश्वास करना असम्भव है । यह व्यक्ति उन लोगों में भी नहीं है, जो समाज में अवतरित पुरुषों या ऋषि-मुनियों में गिने जाते हों । उदाहरण के लिए अश्वत्थामा जैसे व्यक्ति के सम्बन्ध में किसी ऐसी विशेषता की चर्चा सुनने में नहीं आती, जो किसी भी अर्थ में लोकोत्तर हो और यह बात तो सहज ही समझ में आ सकती है कि इतना लम्बा जीवन अपने लिए और दूसरों के लिए भारस्वरूप हो जाएगा । ऐसी अमरता यदि प्राप्त भी हो सकती हो, तो कौड़ियों के मोल भी लेने की वस्तु नहीं हो सकती ।

“परन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जिनको सच्चे अर्थों में अमर कहा जा सकता है । उनका पंच भौतिक शरीर तो नहीं रह जाता, परन्तु उनका यश-कार्य सैकड़ों साहसों वर्षों तक, कभी-कभी ज्यों-का-ज्यों बना रहता है बल्कि सच तो यह है कि काल की गति के साथ-साथ उसके कलेवर में और वृद्धि हो जाती है । उसके सम्बन्ध में बहुत सी कथाएं बन जाती हैं और उसके जीवन चरित के मूल रूप में इस प्रकार घुल-मिल जाती हैं कि उसका अभिन्न का बन जाती हैं । ऐसे ही महापुरुषों में महाराणा प्रताप थे ।... प्रताप की कीर्ति अमर है और देश-काल में अनेक परिवर्तनों के होने पर भी वह मनुष्यों को उस समय तक स्फूर्ति देती रहेगी, जब तक मानव समाज में ऊंचे चरित्र, त्याग, शौर्य और आत्मोसर्ग का आदर रहेगा ।”

अष्टम अध्याय

महाराणा प्रताप के उत्तराधिकारी

महाराणा प्रताप का महाप्रयाण राजवंश के उस गरिमामय इतिहास का भी अवमान है जिसने विश्व के स्वाधीनता प्रेमियों को एक प्रेरणा दी है उन्हें चमत्कृत किया है। महाराणा प्रताप जैसे परम स्वाभिमानी और स्वतन्त्रता प्रेमी विरले ही पैदा होते हैं। यों सिसौदिया वंश को यह गौरव प्राप्त है कि उसमें वप्पा रावल, राणा कुम्भा, महाराणा हमीर, राणा सांगा, महाराणा प्रताप जैसे महान वीरों ने जन्म लिया। सिसौदिया नरेशों में किसी में भी महाराणा प्रताप जैसी संकल्प शक्ति, स्वाधीनता अनुराग आदि के दर्शन नहीं होते। 'वीरविनोद' में महाराणा प्रताप के बाद उनके पुत्र अमरसिंह से लेकर सज्जनसिंह (1859-84) के शासन तक का इतिहास दिया गया है। उल्लेखनीय है कि वीरविनोद के रचयिता चारण श्यामलदास महाराणा सज्जनसिंह के आश्रित थे।

महाराणा अमरसिंह प्रथम

महाराणा की मृत्यु के बाद माघ शुक्ला एकादशी, 1653 विक्रमी (29 जनवरी, 1597 ई.) को चावण्ड में अमरसिंह का राज्याभिषेक हुआ। सिंहासन पर बैठते ही उन्हें अपने पिता के शब्द याद आये कि किसी भी परिस्थिति में मुगलों की अधीनता स्वीकार न की जाए। अतः इन शब्दों का मान रखने के लिए अमरसिंह ने मेवाड़ पर अधिकार करने का अपना कार्यक्रम जारी रखा। उन्होंने मेवाड़ के कई मुगल थानों को उठवा दिया तथा वहां अपने थाने बैठा दिये। फलस्वरूप 1598 में अकबर ने मेवाड़ पर पुनः चढ़ाई कर दी अमरसिंह मुगल परगनों को लूटकर पहाड़ों की शरण में चले गये। अकबर ने शहजादा सलीम को मानसिंह कछवाहा के साथ अजमेर में छोड़ दिया, जिससे उसका मेवाड़ अभियान सुचारू रूप में चल सके। फलतः ऊंटालाप, मोही, मदारिया, कोशीथल, बागौर, माण्डल, माण्डलगढ़ और चित्तौड़ में मुगल थाने स्थापित हो गये। अमरसिंह ने ऊंटाला पर चढ़ाई की। घमासान युद्ध हुआ, किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला।

जगमाल का छोटा भाई सगर भी प्रताप से रूठकर मानसिंह के पास चला गया था। मानसिंह की पत्नी उसकी मौसी थी। मानसिंह उसे भी मुगलों की सेवा में ले गया था। अकबर की मृत्यु के बाद जहांगीर मुगल सम्राट बना। नवम्बर 1605 में उसने शहजादे परवेज को आसफ खां मगर आदि के साथ अमरसिंह को दबाने के लिए भेजा। मुगलों का आक्रमण होने पर अमरसिंह ने अपने अधिकृत क्षेत्रों को उजाड़ दिया और पर्वतों की शरण ली। जब मुगल सेना अजमेर से मेवाड़ को चल पड़ी, तो मेवाड़ के वीरों ने देसूरी, बदनौर, माण्डल, माण्डलगढ़ और चित्तौड़ की

तलहटी पर मुगलों पर हमले कर उनके दांत खट्टे कर दिये । परवेज ने सगर को चित्तौड़ का महाराणा घोषित कर उसका राज्याभिषेक कर दिया ।

राजपूत सदा शाही सेना पर हमले करते रहते थे । मार्च 1606 में एक बार इन हमलों के कारण परवेज को ऊंटाला और दैबारी से माण्डल की ओर भागना पड़ा । सगर ने चित्तौड़ में नये सामन्तों की नियुक्तियां की । उसने शक्तिसिंह के प्रपौत्र नारायण दास को भी जागीर दी । 1608 ई. में जहांगीर ने एक विशाल सेना जगन्नाथ कछवाहा के अधीन पुनः अमरसिंह के विरुद्ध भेजी । शाही थाने बैठाता हुआ वह ऊंटाला पहुंचा । दो-तीन दिनों में ही अमरसिंह उदयपुर पहुंचे और शाही सेना पर धावा बोलने के लिए अपनी सेना को आदेश दिया । अमरसिंह के एक सामन्त राय मेघसिंह ने बड़ी युक्ति से काम लिया । उसने दस-बीस राजपूतों को गायों, भैंसों आदि के साथ खरबूजे बेचने के बहाने शाही सेना में भेज दिया । गाय-गैसों पर विस्फोटक पदार्थ लदे हुए थे, जो बाहर से खरबूजों के समान दिखाई देते थे । इन राजपूतों के साथ शाही सेना ने समझा कि उन पर चारों ओर से विशाल सेना ने आक्रमण कर दिया है । अतः जिसे जहां स्थान मिला, वही उसी रास्ते भाग खड़ा हुआ । सन् 1609 में जगन्नाथ कछवाहा की मृत्यु हो गई उसे मेवाड़ अभियानों का अच्छा अनुभव था । उसकी मृत्यु से जहांगीर को भारी दुःख हुआ । इसके पश्चात् जहांगीर ने एक विशाल सेना के साथ अछूता खां को अमरसिंह के विरुद्ध भेजा । उसे सूचना मिली कि अमरसिंह की पत्नियां तथा बच्चे जोधपुर के राजा सूरसिंह के राज्य में रहते हैं । अतः उसने जोधपुर नरेश से सोजत का परगना जब्त कर लिया और इसे राठौर चन्द्रसेन को दे दिया । और चन्द्रसेन को आदेश दिया कि अमरसिंह के वहां पहुंचने पर उसे तुरन्त सूचना दी जाए ।

अमरसिंह भी सदा अवसरों की ताक में रहते थे । 1611 ई. में एक बार उन्हें सूचना मिली कि मुगलों का एक खजाना अहमदाबाद ने आगरा भेजा जा रहा है । अतः उन्होंने अपने बड़े पुत्र कुंवर कर्णसिंह को खजाना लूटने के लिए भेजा । माजानन और मालगढ़ के पास कर्णसिंह की सेना ने उक्त कोष पर धावा बोल दिया । कोष के साथ मुगल सेना की टुकड़ियां भी थीं । अतः राजपूतों की उनसे टक्कर हुई, किन्तु इसमें कर्णसिंह को सफलता नहीं मिली । उन्हें भागकर पहाड़ों में जाना पड़ा ।

अमरसिंह भी सदा अवसरों की ताक में रहते थे । 1611 ई. में एक बार उन्हें सूचना मिली कि मुगलों का एक खजाना अहमदाबाद से आगरा भेजा जा रहा है । अतः उन्होंने अपने बड़े पुत्र कुंवर कर्णसिंह को उसे लूटने के लिए भेजा । एक सेना लेकर कर्णसिंह चल पड़े । माजानन और मालगढ़ के पास उन्होंने उक्त कोष पर धावा बोल दिया । कोष के साथ भी सेना की टुकड़ियां थीं, अतः राजपूतों की उनसे टक्कर हुई, किन्तु इसमें कर्णसिंह को सफलता नहीं मिली । उन्हें भागकर पहाड़ों में जाना पड़ा ।

अमरसिंह को वश में करने में जहांगीर को किसी प्रकार की सफलता नहीं मिल रही थी । अतः 16 सितम्बर, 1613 को जहांगीर स्वयं अजमेर पहुंचा । वहां से उसने शहजादा खुर्रम को मेवाड़ जाने का आदेश दिया । खुर्रम एक योग्य और उत्साही युवक था । वह अमरसिंह को पहाड़ों में ही घुसकर पकड़ लेना चाहता था । अतः फरवरी 1614 को उसने अपनी सेना को चार

भागों में विभक्त किया और उन्हें पहाड़ों की ओर जाने का आदेश दिया । ये चारों दल चल पड़े । इन्होंने मार्ग में पड़ने वाले स्थानों पर जो मिला, उसे लूट लिया, बस्तियों को जला डाला. कई निर्दोष लोगों को मौत के घाट उतार दिया तथा अनेकों को बन्दी बना लिया ।

अमरसिंह ने भी राजपूतों को दलों में विभक्त कर लिया और उन्हें ऐसे स्थानों पर नियुक्त कर दिया, जहां से मुगलों की पहाड़ों में घुसने की सम्भावना थी । इन दलों को आदेश दिया गया कि मुगलों को पहाड़ों में प्रवेश न करने दिया जाए । मुगलों का जोर बढ़ता जा रहा था । इस बीच उनकी कई टुकड़ियों का मुगलों से सामना हुआ । उनके कई हाथी लूट लिए गए । मुगल सैनिकों ने उन हाथियों को खुर्रम के पास भेज दिया । इन दीर्घकालीन संघर्षों से अमरसिंह के साथ ही उसके सहयोगी राजपूतों का जीवन भी अस्त-व्यस्त हो गया था, किन्तु सफलता की कोई आशा नहीं थी, अतः राजपूतों में भी एक निराशा और उदासीनता की भावना व्याप्त होने लगी थी । वे समय के साथ समझौता करते हुए अन्य राजपूतों के समान ही मुगलों से सन्धि कर लेना चाहते थे । कई सामन्तों ने अमरसिंह के सामने अपने ये विचार रखे । लम्बे विचार-विमर्श के पश्चात् अमरसिंह ने अब्दुल रहीम खानखाना को एक पत्र लिखा, जिसमें निम्न दोहा लिखा गया था-

गोड कछाहा रावठड □ गोखा जोख करन्त ।

कह जो खानां खान ने बनचर हुआ फिरन्त । ।

अर्थात् गौड, कछवाहा, राठौर आदि राजपूत नरेश मुगल अधीनता स्वीकार करके सुख से जीवन-यापन कर रहे हैं और मैं वनचरों की तरह वन-वन मारा फिर रहा हूं ।

अमरसिंह ने एक बार खानखाना की पत्नियों को बन्दी बना लिया था, किन्तु महाराणा प्रताप ने उन्हें सम्मान सहित खानखाना के पास भिजवा दिया था । इससे खानखाना इस परिवार के प्रति बड़े सम्मान का भाव रखते थे । इस पत्र को पाकर खानखाना ने उत्तर में निम्न दोहा लिखा-

धर रहसी रहसी धरम खप जासी खुरमाण ।

अमर विसम्भर ऊपरो राखों निहजो राण । ।

अर्थात् धर्म रहेगा, पृथ्वी रहेगी, किन्तु मुगल कालकवलित हो जाएंगे । इस समय प्रभु की यही इच्छा है । अतः हे अमरसिंह! आप मुगलों की अधीनता स्वीकार कर लें । आपका यश फिर भी अमर रहेगा ।

राजपूत भयंकर दयनीयता का जीवन जी रहे थे । उन्होंने अपनी इस दशा के विषय में युवराज कर्णसिंह से कहा । कर्णसिंह भी संघर्ष को और अधिक नहीं बढ़ाना चाहता था । अतः उसने अमरसिंह से पूछे बिना अपने दो आदमी सन्धि प्रस्ताव के साथ खुर्रम के पास भेज दिए । इस प्रस्ताव को पाकर खुर्रम को बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने यह समाचार सम्राट जहांगीर के पास भेज दिया । जहांगीर भी इससे अत्यन्त प्रसन्न हुआ ! उसने अमरसिंह को किसी प्रकार न सताने का आश्वासन भेजा और युवराज कर्णसिंह को मुगल दरबार में भेजने को कहा ।

इन सन्देशों का आदान-प्रदान कर्णसिंह तथा मुगल सम्राट के बीच हो रहा था; अमरसिंह इससे पूरी तरह अनभिज्ञ थे । कर्णसिंह ने ही यह समाचार अमरसिंह को दिया । समाचार सुनते ही वह

सहसा गम्भीर हो गये, सारी उदासी उनके चेहरे पर आ गई और कुछ देर तक उनके मुंह से एक शब्द भी न निकला । कुछ देर बाद वह बोले-“यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो मुझे भी सहना पड़ेगा । मैं अकेला कर ही क्या सकता हूं । मुगलों की सेवा, उनके फरमान की पेशवाई, उनकी खिलअत पहनना आदि मेरे बड़े-बूढ़ों ने कभी नहीं किया, वह मुझे करना पड़ रहा है...”

इसके बाद वह स्वयं शहजादा खुर्रम के पास पहुंचे । उन्हें मुगलों पर पूरा विश्वास नहीं था, इसलिए उन्होंने वहां अकेले कर्णसिंह को नहीं भेजा । वह स्वयं अकेले खुर्रम के पास जाना चाहते थे, किन्तु अनेक राजपूत स्वयं उनके साथ चल पड़े । इनमें उनके तीन पुत्रों के साथ ही भीमसिंह, सूरजमल, बागसिंह सहसमल्ल के अतिरिक्त सौ अन्य राजपूत भी थे । उनका खुर्रम से मिलन गोगूदा में हुआ । शहजादा खुर्रम ने स्वयं उनकी अगवानी की । अमरसिंह ने खुर्रम को अनेक भेंटें दीं । इसके बाद अमरसिंह अपने स्थान पर लौट आए । फिर कर्णसिंह को खुर्रम के पास भेजा गया । 18 फरवरी, 1615 को शहजादा खुर्रम युवराज कर्णसिंह को लेकर सम्राट जहांगीर के पास अजमेर पहुंचा । जहांगीर ने कर्णसिंह को अनेक पुरस्कार दिए और पांच हजारी मनसब प्रदान किया । इसके बाद कर्णसिंह उदयपुर लौट आया ।

इन बदली हुई राजनैतिक परिस्थितियों में कर्णसिंह के उदयपुर पहुंचने पर सगर परिवार सहित चित्तौड़ छोड़कर बादशाह के पास जा पहुंचा । बादशाह ने उसे रावत की उपाधि और भदौरा परगना की जागीर प्रदान की । इस प्रकार हम देखते हैं कि अमरसिंह ने मुगलों से यथासम्भव संघर्ष किया, किन्तु उनमें महाराणा प्रताप के समान संकल्प शक्ति का अभाव था । अतः उन्होंने परिस्थितियों के सामने झुक जाना ही उचित समझा । मेवाड़ की उस गौरवशाली परम्परा को उन्होंने विच्छिन्न कर दिया जो शताब्दियों से अनवरत रूप में चली आ रही थी । उन्होंने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली । 30 अक्टूबर, 1620 को उदयपुर में उनका देहान्त हो गया ।

महाराणा कर्णसिंह

अमरसिंह की मृत्यु के पश्चात् 7 फरवरी, 1620 को उनके ज्येष्ठ पुत्र कर्णसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे । वस्तुतः मुगल अधीनता स्वीकार करने के पीछे कर्णसिंह की ही भूमिका प्रमुख रही थी । कर्णसिंह का शासन प्रबन्ध सर्वथा सन्तोषजनक था । जहांगीर से मन-मुटाव होने पर शहजादा खुर्रम उदयपुर में ही रहा । 1626 ई. में खुर्रम और जहांगीर में सुलह हो गई थी । अतः खुर्रम ने दाराशिकोह और औरंगजेब अपने इन दो पुत्रों को जहांगीर की सेवा में भेज दिया । इसके पश्चात् जहांगीर की मृत्यु हो जाने पर जब खुर्रम दक्षिण से गुजरात होता हुआ आगरे जा रहा था, तो वह गोगूदे में ठहरा । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्णसिंह और खुर्रम के सम्बन्ध बड़े आत्मीय थे । इसके बाद जब खुर्रम आगरे को चल पड़ा, तो कर्णसिंह ने अपने छोटे भाई अर्जुनसिंह को उसके साथ भेज दिया और स्वयं उदयपुर चले आए । इसके तुरन्त बाद ही कर्णसिंह का देहान्त हो गया ।

महाराणा जगतसिंह प्रथम

कर्णसिंह के बाद 9 मई 1928 को जगतसिंह प्रथम मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठे । वह बाल्यकाल से ही अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे । देवलिया, डूंगरपुर, सिरौही पर सैनिक कार्यवाही और बांसवाड़े के रावल पर जुर्माना आदि उनके जीवन के मुख्य कार्य रहे । सन् 1652 में वह तीर्थयात्रा पर जाना चाहते थे, कि इसी वर्ष 25 अक्टूबर को उनका देहान्त हो गया ।

महाराणा राजसिंह प्रथम

14 फरवरी 1653 को मेवाड़ के राजसिंहासन पर महाराणा राजसिंह प्रथम का राज्याभिषेक हुआ । इस अवसर पर सम्राट शाहजहां ने भी टीके का दस्तूर भेजा था । यद्यपि अब मेवाड़ का राजवंश मुगलों के अधीन हो चुका था तथापि महाराणा राजसिंह अर्थों से महाराणा प्रताप के आदर्शों पर चलने वाले एक स्वाभिमानी सिसोदिया नरेश थे । वह अमरसिंह द्वारा मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के कलंक को धो डालना चाहते थे ।

सिंहासन पर बैठते ही राजसिंह ने चित्तौड़ के दुर्ग की तेजी से मरम्मत करानी प्रारम्भ कर दी । इसी समय मुगल सम्राट के मुलाजिमों द्वारा मालवा और अजमेर के मन्दिरों में गोवध आदि की घटनाओं ने भी महाराणा के आक्रोश को बढ़ा दिया । उनके सेवकों ने भी मुगलों के साथ छेड़-छाड़ आरम्भ कर दी । शाहजहां को सूचना मिली कि राजसिंह मुगल सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करने की तैयारी कर रहे हैं । शाहजहां ने राजसिंह के चाचा गरीबदास को सात सौ का मनसब और जागीर प्रदान की तथा एक सेना के साथ राजसिंह के विरुद्ध भेजा । स्मरणीय है कि गरीबदास उन दिनों मुगल दरबार में ही थे । गरीबदास जब मेवाड़ पहुंचे तो उन्होंने राजसिंह के विरुद्ध युद्ध नहीं किया और सीधे राजसिंह के पास पहुंचे तथा उन्हें सभी बातों से अवगत कराया । राजसिंह ने उन्हें अपना परामर्शदाता बना लिया ।

16 अक्टूबर 1654 को शाहजहां अजमेर में चिश्ती की दरगाह की जियारत करने के बहाने मेवाड़ अभियान पर चल पड़ा । उसने एक ओर बीरम हजार घुड़सवार सैनिकों के साथ मौलवी सादुल्ला खां को चित्तौड़ की ओर भेज दिया और साथ ही मुंशी चन्द्रभान नामक एक ब्राह्मण को दूत बनाकर राजसिंह को समझाने के लिए भी भेजा, ताकि अनावश्यक रक्तपात से बचा सके । जब सादुल्ला खां चित्तौड़ पहुंचा, तो उसे चित्तौड़ का किला खाली मिला । राजसिंह किला पहले ही खाली करा चुके थे । उन्होंने सारी प्रजा को पहाड़ों में भेजकर चित्तौड़ को उजाड़ना प्रारम्भ कर दिया था ।

जब चन्द्रभान महाराणा राजसिंह के पास पहुंचा, तो महाराणा ने उसका यथोचित स्वागत-सम्मान किया । चन्द्रभान ने महाराणा को अनेक प्रकार से समझाया । उसने परामर्श दिया कि राजकुमार को बादशाह के पास भेजा जाय । इसी में मेवाड़ का हित है । दोनों के बीच इस विषय में लम्बा वार्तालाप हुआ । अतः कुंवर सुल्तानसिंह की अवस्था 5-6 वर्ष की थी । दाराशिकोह ने कुंवर सुल्तानसिंह को बादशाह के पास भेजा । वह 2 दिसम्बर 1654 को बादशाह के पास पहुंचा । बादशाह ने कुंवर को खिलअत प्रदान की । इसके दूसरे दिन कुंवर सुल्तानसिंह उदयपुर को लौट पड़ा ।

महाराणा राजसिंह एक कुशल राजनीतिज्ञ थे । अतः उन्होंने मौलवी सादुल्ला खां के पास पहले ही मधुसूदन भट्ट और रायसिंह झाला को भेज दिया था । इन दोनों ने सादुल्ला खां को अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु गरीबदास की घटना के कारण वह राजसिंह से अत्यन्त रूष्ट था । परिस्थितियों को प्रतिकूल देख महाराणा ने उस समय चुप बैठना ही उचित समझा, अन्यथा मेवाड़ के उजड़ने से वह अत्यन्त क्रोधित थे । अतः वह मुगलों का प्रतिरोध किये बिना अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए एक विशाल सेना बनाने पर विचार करने लगे ।

औरंगजेब के बाद शाहजहां मुगल सम्राट बना, तो उसने मेवाड़ का एक प्रसिद्ध स्थान माण्डलगढ़ कृष्णगढ़ के राजा रूपसिंह को दे दिया । इससे राजसिंह का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था । वह इस अपमान को सहन नहीं कर पाये । अतः उन्होंने सेना भेजकर माण्डलगढ़ को अपने अधिकार में ले लिया । यही नहीं 18 अक्टूबर, 1657 के दशहरे में उन्होंने अपनी नई सेना का भव्य प्रदर्शन किया । इस नवगठित सेना को उन्होंने मुगलों द्वारा अधिकार में लिए गये प्रदेशों को उनके अधिकार से छुड़ाने के लिए भेज दिया । सेना अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ी और 12 मई, 1658 को खैराबाद, माण्डल और दरीबा पर अधिकार कर लिया गया । इन स्थानों से मुगलों को खदेड़ने के बाद यहां मेवाड़ के थाने बैठा दिये गए । जब यह सूचनाएं शाहजहां को मिली, तो वह आगबबूला हो उठा, किन्तु इस समय वह कुछ नहीं कर सका, क्योंकि तब स्वयं उसके पुत्र विद्रोह पर उतर आये थे ।

महाराजा राजसिंह ने अवसर का लाभ उठाते हुए औरंगजेब की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया । दोनों में पत्रों का आदान-प्रदान हुआ । औरंगजेब भी इस समय अपनी स्थिति को सशक्त बनाना चाहता था । अतः उसने राजसिंह के साथ मित्रता कर ली । जब औरंगजेब शुजा को दबाने बंगाल गया तो, उसने राजसिंह से भी सहायता मांगी । राजसिंह ने अपने छोटे पुत्र सरदारसिंह को उसके साथ भेज दिया । शुजा के दमन के बाद जब औरंगजेब प्रयाग को लौटा तो उसी समय दाराशिकोह पंजाब से सिख, कच्छ होता हुआ गुजरात आ पहुंचा था । 23 फरवरी 1659 को उसने भी राजसिंह से सहायता मांगने के लिए उन्हें पत्र लिखा । राजसिंह दोनों भाईयों को लड़ाकर मुगल साम्राज्य को दुर्बल करना चाहते थे, कदाचित् इसीलिए उन्होंने दाराशिकोह को कोई उत्तर नहीं दिया । इस समय माण्डलगढ़ और बदनौर उनके अधिकार में आ चुके थे । औरंगजेब भी उन्हें हर प्रकार से प्रसन्न रखना चाहता था, अतः उसने डूंगरपुर, बांसलवाड़ा गयासपुर, बरनावर आदि पर भी महाराणा के अधिकार को स्वीकार कर लिया । इसके लिए उसने अपना फर्माना भेज दिया ।

उचित अवसर देखकर महाराणा ने अपने राज्य का विस्तार करना भी प्रारम्भ कर दिया । इसी प्रसंग से उन्होंने बीसलवाड़े को अपने अधिकार में करने के लिए सेना भेज दी । बीसलवाड़े के रावल समरसिंह ने महाराणा की अधीनता स्वीकार कर ली । उसने हर्जाने के रूप में मेवाड़ को दस लाख रुपये दिये । मेवाड़ के सेनापति फतहचन्द्र ने केवल बीस हजार रुपये लेकर अन्य सभी रुपये और गांव रावल सरमसिंह को लौटा दिए । इसके बाद वह महाराणा के पास लौट आया । बीसलवाड़ा के बाद मेवाड़ की सेना ने डूंगरपुर प्रस्थान किया । वहां के रावल गिरिधर ने भी

मेवाड़ की अधीनता स्वीकार कर ली ।

इस समय पिता शाहजहां को बन्दी बनाने और भाइयों की हत्या करने के बाद औरंगजेब मुगल सम्राट बन चुका था । अतः उसे प्रसन्न करने के लिए राजसिंह ने उसके पास भेंट स्वरूप एक हथिनी तथा जवाहरात आदि भेजे । इन उपहारों को लेकर उदयकर्ण चौहान 9 सितम्बर 1659 को औरंगजेब के पास दिल्ली पहुंचा । इन भेंटों को औरंगजेब ने प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया और उसने स्वयं भी उदयकर्ण चौहान द्वारा महाराणा राजसिंह के लिए एक घोड़ा तथा जाड़ो की खिलअत भेजी ।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि इस समय तक महाराणा समरसिंह के औरंगजेब के साथ सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण रहे, किन्तु औरंगजेब जैसे कट्टर और संकीर्ण सम्राट के साथ किसी भी उदार एवं स्वाभिमानी शासक के सम्बन्धों का सदा के लिए सद्भावनापूर्ण रह पाना सम्भव नहीं था । कहने की आवश्यकता नहीं कि शीघ्र ही औरंगजेब के साथ उनके सम्बन्ध कटुतापूर्ण हो गए । सम्राट जहांगीर ने एक नियम बनाया था, जिसके अनुसार मुगल साम्राज्य के अधीन राजपूत नरेश बिना सम्राट की आज्ञा प्राप्त किए परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते थे । इसके पीछे सबसे प्रमुख कारण था कि पारम्परिक विवाह सम्बन्धों से ये नरेश परस्पर सम्बन्धों में बंधकर मुगल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकते थे । साथ ही एक महत्वपूर्ण कारण और भी कहा जाता है, वह यह कि मुगल शासक सुन्दर राजपूत कुमारियों की डोलियां अपने यहां मंगा लेते थे ।

रूपनगर के राज्य की पुत्री चारूमती अद्वितीय सुन्दरी थी । उसकी सुन्दरता की प्रशंसा सुनकर औरंगजेब उसके साथ विवाह करना चाहता था । चारूमती का भाई मानसिंह भी औरंगजेब के दरबार में था । उसने अपनी बहन का विवाह औरंगजेब के साथ करना स्वीकार कर लिया और इसके लिए वचन भी दे दिया, किन्तु उसके माता-पिता इस विवाह के पक्ष में नहीं थे । वे भी औरंगजेब के अधीन थे । अतः इस सम्बन्ध को अस्वीकार कर उसका कोप भाजन भी नहीं बनना चाहते थे । उन्होंने बड़ी युक्ति से लिया । स्वयं राजकुमारी चारूमती के हाथों से विवाह प्रस्ताव का पत्र महाराणा राजसिंह के लिए लिखाया गया । इस पत्र को लेकर एक ब्राह्मण महाराणा के पास पहुंचा । अतः महाराणा राजसिंह रूपनगर पहुंचे और उन्होंने चारूमती से विवाह किया । यहीं से उनके सम्बन्ध औरंगजेब के साथ कटु हो गए । क्रोधित होकर औरंगजेब ने गयासपुर और बरनावपुर को उदयपुर से अलग कर दिया और रावत हरिसिंह को दे दिया । राजसिंह ने सम्राट के इस कार्य के प्रति अपनी नाराजगी व्यक्त की और इस विषय में उसे एक पत्र भी लिखा, किन्तु इसका कोई भी परिणाम न निकला ।

इन सबके साथ ही महाराणा ने अनेक नवीन मन्दिरों का निर्माण कराया तथा मथुरा के गोसाइयों को भी अपने राज्य में शरण दी । इन कार्यों से औरंगजेब राजसिंह से ओर कुपित हो गया । अतः वह 20 जनवरी, 1679 को जियारत के बहाने चिश्ती की दरगाह अजमेर के लिए चल पड़ा और 1 मार्च को अजमेर पहुंचा । राजसिंह उसका मनोगत समझ गये थे । अतः उन्होंने अपना एक वकील उसके पास भेजा । वकील को औरंगजेब ने जो-जो आज्ञाएं दी थीं उन्हें उस समय

महाराणा ने स्वीकार कर लिया ।

औरंगजेब के साथ उनके सम्बन्धों में पुनः सुधार न आता या न आता, इसी समय औरंगजेब ने हिन्दुओं पर जजिया कर लगा दिया । राजसिंह ने इसे हिन्दुओं के साथ एक धार्मिक अन्याय समझा । अतः उन्होंने खिन्न होकर इसे अनुचित ठहराते हुए औरंगजेब को पत्र लिखा । इस पत्र में उन्होंने लिखा था कि ईश्वर के सामने हिन्दू और मुसलमान दोनों समान हैं । सम्राट उसका प्रतिनिधि होता है । अतः ईश्वर के नाम पर इस प्रकार का भेदभाव नितान्त अनुचित है । इससे सम्राट का यश धूमिल पड़ जाएगा । इस पत्र के प्राप्त होने पर इसे पढ़ते ही औरंगजेब आग-बबूला हो गया । उसने तुरन्त उदयपुर पर हमला करने का आदेश दे दिया । 15 सितम्बर, 1679 को उसने सेना सहित उदयपुर के लिए प्रस्थान किया । 18 जनवरी 1680 को मुगल सेना मेवाड़ पहुंच गई । वहां पहुंचने पर सेना को उदयपुर पर चढ़ाई करने का आदेश दे दिया गया ।

महाराजा राजसिंह को जब औरंगजेब के कार्य-कलापों की सूचना मिली तो उन्होंने अपनी प्रजा, बच्चों तथा स्त्रियों को मकाम देवी माता आदि पहाड़ों में भेज दिया और अपने सामन्तों, वीरों तथा भीलों को आज्ञा दी कि अवसर मिलते ही मुगल सेना को पहुंचने वाली सामग्री लूट ली जाए । मुगल सेनापतियों ने यह बात औरंगजेब को बताई । यक्का, ताज खां आदि मुगल सेनापति हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़ते हुए उदयपुर पहुंचे । 27 जनवरी को मुगल शहजादा अकबर एक विशाल सेना लेकर चल पड़ा । महाराणा का पीछा करने के लिए उसने सेना को पहाड़ों की ओर प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी । 5 मार्च को औरंगजेब ने भी चित्तौड़ की ओर प्रस्थान किया । उसने 63 मन्दिर तुड़वा डाले । फिर खानेजहां नामक सेनापति चित्तौड़ पहुंच गया । इसके पश्चात् शहजादा अकबर को आदेश मिला कि वह सेना सहित चित्तौड़ के किले में पड़ाव डाले । अतः अकबर चित्तौड़ के किले में रहने लगा । राजपूतों की मुगलों के साथ कई बार भयंकर लड़ाइयां हुईं और कई बार मुगल सेना को मुंह की खाली पड़ी, किन्तु अंततः पलड़ा मुगलों का ही भारी रहा ।

इसके पश्चात् अपने स्थान पर शहजादा अकबर को नियुक्त कर औरंगजेब अजमेर चला गया । महाराणा राजसिंह वास्तविक अर्थों में महाराणा प्रताप के उत्तराधिकारी थे । वह जीवनपर्यन्त मुगलों से संघर्ष करते रहे । जय या पराजय मन की होती है, शरीर की नहीं । उन्होंने मन से कभी पराजय स्वीकार नहीं की । इस महान स्वतन्त्रता प्रेमी वीर की मृत्यु 3 नवम्बर 1680 को कुभलगढ़ परगने के ओडा गांव में हुई । उनकी मृत्यु बिना किसी अस्वस्थता के सहसा ही हुई थी । अतः इस विषय में यह भी कहा जाता है कि उन्हें विष दिया गया था क्योंकि उनका स्वभाव अत्यन्त तीव्र था । अतः सभी लोग उनसे नाराज रहते थे । जो भी हो इतना निश्चित है कि महाराणा राजसिंह एक स्वाभिमानि स्वतन्त्रता प्रेमी राजपूत नरेश थे । उन्होंने मेवाड़ के अस्त हुए सूर्य को पुनः प्रतिष्ठित करने का जो प्रयत्न किया था, वह सर्वथा प्रशंसनीय कार्य है । यद्यपि उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली, फिर भी उससे उनके कार्य का महत्त्व कम नहीं होता है । यदि उन्हें अपने कार्यों में सफलता मिल गई होती, तो न जाने मेवाड़ और भारत का इतिहास आज किस रूप में होता ।

महाराणा जयसिंह

राजसिंह के देहान्त के समय जयसिंह कुरज गांव में मुगल सेना का सामना कर रहे थे। वहीं 3 नवम्बर को उनका अभिषेक किया गया। उनका जन्म 15 फरवरी 1653 को हुआ था। उनके महाराणा बनने के साथ ही लगभग उसी समय शहजादा अकबर ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह कर स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया था। राजपूत भी इस कार्य में उसका साथ दे रहे थे। उसके पास 70 हजार से अधिक सेना हो गई थी। औरंगजेब के आने का समाचार सुन वह सामना करने को तैयार हो गया। इस अवसर पर औरंगजेब ने बड़ी कूटनीति से काम लिया। उसने अकबर के नाम एक पत्र लिखा और बड़ी धूर्तता के साथ यह पत्र राजपूतों के हाथों पहुंचा दिया। पत्र को पढ़कर राजपूत समझ बैठे कि अकबर औरंगजेब के कहने पर उनके साथ धोखा कर रहा है। औरंगजेब की युक्ति काम कर गई। अतः 28 जनवरी 1631 को अकबर भाग खड़ा हुआ। इसके पश्चात जयसिंह और औरंगजेब में सुलह हो गई।

सिसौदिया लोग शराब नहीं पीते थे किन्तु जयसिंह के बड़े पुत्र अमरसिंह की एक पत्नी शराब की आदी थी। उसने अमरसिंह को भी इसकी आदत डाल दी। अमरसिंह शराब पीने लगा। इससे जयसिंह को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने अमरसिंह को डांटा, किन्तु इसका अमरसिंह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टे वह जयसिंह को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगा। राजपूताने की एक प्रथा के अनुसार पिता के जीवित रहते पुत्र सफेद पगड़ी नहीं पहन सकता, किन्तु अमरसिंह एक बार अपने और अपने पुत्र के सिर में सफेद पगड़ी बांधकर जयसिंह के सामने पहुंचा। उस समय जयसिंह जयसमुद्र गये हुए थे। पुत्र के इस आचरण से उन्हें मार्मिक वेदना हुई। अतः उन्होंने अमरसिंह को उदयपुर छोड़ देने की आज्ञा दे दी। अमरसिंह उदयपुर के पूर्व में लगभग आठ कोस दूर कर्णपुर गांव चला गया। मेवाड़ के अधिकतर सामन्त अमरसिंह के पक्ष में थे। परिस्थिति को अपने प्रतिकूल देख जयसिंह को उदयपुर छोड़ना पड़ा। उदयपुर छोड़ने के बाद वह नाडौल के वन में चले गये। अमरसिंह ने हाड़ा राजपूतों की सहायता से अपने सिसौदिया राजपूतों को लेकर उदयपुर पर अधिकार कर लिया और अपना राज्याभिषेक कराने के बाद वह स्वयं महाराणा बन बैठा। इसके बाद वह जीलवाड़ा पहुंच गया।

अमरसिंह के इस कार्य से महाराणा जयसिंह का चिन्तित होना स्वाभाविक था। घर की इस फूट का प्रत्यक्ष लाभ मुगलों को पहुंचता। इस सब पर विचार करते हुए जयसिंह के सामन्तों ने अमरसिंह के पास कुछ राजपूतों को भेजा। काफी समझाने के बाद अंततः राजकुमार अमरसिंह मान गया। उसे खर्च के लिए 3 लाख रू. वार्षिक की जागीर दी गई। इसके साथ ही यह भी तय हुआ कि महाराणा जयसिंह उदयपुर में रहेंगे और अमरसिंह राजनगर में। अतः तब से राजकुमार राजनगर में और महाराणा उदयपुर में रहने लगे। 1692 में अमरसिंह के इस विद्रोह का अन्त हुआ। महाराणा जयसिंह की मृत्यु 5 अक्टूबर 1698 को हुई।

महाराणा अमरसिंह द्वितीय

जयसिंह का जन्म 11 अक्टूबर 1672 को हुआ था। उनकी मृत्यु का समाचार पाते ही वह

उदयपुर की ओर चल पड़े । उदयपुर पहुंचने पर 10 अक्टूबर को अमरसिंह मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठे । उन्होंने अपने विरोधियों को भी इस अवसर पर पुरस्कार देकर अपना मित्र बना लिया ।

वीरविनोद महामहोपाध्याय कविराज ने लिखा है कि 1708 ई. में जोधपुर और जयपुर के नरेश उदयपुर आये । दोनों ने महाराणा अमरसिंह के सामने प्रस्ताव रखा कि सभी राजपूत नरेश अमरसिंह के पक्ष में मुगल साम्राज्य को नष्ट कर दें और उन्हें अमरसिंह को) भारत का सम्राट बनाए । इसके अतिरिक्त उनमें राजपूत राजकुमारियों की डोलियां मुगलों के यहां न भेजने के विषय में भी चर्चा हुई ।

22 दिसम्बर 1710 को महाराणा अमरसिंह द्वितीय का स्वर्गवास हुआ ।

महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय

22 दिसम्बर 1710 को महाराणा संग्रामसिंह का राज्याभिषेक हुआ । अभिषेक महोत्सव 8 मई 1711 को मनाया गया ।

मुगल सम्राट ने पुर मण्डल आदि का अधिकार रणबाज खां मेवाती को दे दिया था, अतः महाराणा संग्रामसिंह ने उस पर (रणबाज खां) आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त की । माधवसिंह का उदयपुर आना आदि संग्रामसिंह के शासन के समय की घटनाएं हैं ।

उक्त घटनाएं के अतिरिक्त महाराणा संग्रामसिंह के जीवन में अन्य कोई विशेष उपलब्धि नहीं रही । उनका देहान्त 23 जनवरी 1734 ई. के दिन हुआ था । उनका जन्म 1 अप्रैल 1690 को हुआ था । उनकी सोलह रानियां थी, ऐसा इतिहास की पुस्तकों में उल्लेख है, किन्तु उनकी छह रानियों के ही नाम मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं-अतरकुंवर, सूरजकुंवर, उम्मेदकुंवर, रामकुंवर, इन्द्रकुंवर, महाकुंवर आदि । उनके चार पुत्र थे--जगतसिंह, नाथसिंह, बाघसिंह और अर्जुनसिंह, जगतसिंह पिता की मृत्यु पर महाराणा बने ।

महाराणा जगतसिंह द्वितीय

जगतसिंह का राज्याभिषेक 2 फरवरी 1734 को और अभिषेक महोत्सव इसी वर्ष 15 जून को हुआ था । जगतसिंह द्वितीय मराठों के प्रभाव से पहले से ही चिन्तित थे । अतः राजपूताने में मराठों का प्रभाव कम करने के लिए उदयपुर ने अन्य राज्यों के साथ वार्तालाप किया । ये राज्य भी महाराणा से सहमत थे । अतः इनका मराठों से लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ था । महाराणा की शाहपुर पर चढ़ाई, महाराणा और कुंवर प्रतापसिंह का परस्पर विरोध महाराणा का जयपुर पर सैनिक अभियान, जगन्निवास का निर्माण महाराणा की सेना से जयपुर की सेना का युद्ध आदि जगतसिंह के राज्यकाल की महत्वपूर्ण घटनाएं हैं ।

16 जून 1751 को महाराणा जगतसिंह का देहान्त हो गया । उस समय उनकी अवस्था लगभग 42 वर्ष थी । उनका जन्म 29 सितम्बर 1709 को हुआ था । उनके दो पुत्र थे-प्रतापसिंह

और अरिसिंह । उनकी मृत्यु के बाद प्रतापसिंह ही उनके उत्तराधिकारी बने ।

महाराणा प्रतापसिंह द्वितीय

महाराणा प्रतापसिंह द्वितीय का राज्याभिषेक 16 जून 1751 ई. को हुआ । उनका जन्म 8 अगस्त 1724 को हुआ था । इनकी मां नाहरसिंह सौलंकी की पुत्री थी, इनके पिता महाराणा जगतसिंह जब बीमार थे, तो नागौर के राजा नाथसिंह, देवगढ़ के रावत जशवन्तसिंह, देलवाड़ा के राज राघववेद, सनवाड के भारतसिंह और शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह ने इन्हें बन्दी बना लिया था, क्योंकि ये लोग प्रतापसिंह को महाराणा नहीं बनाना चाहते थे किन्तु महाराणा जगतसिंह ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया । महाराणा बनने पर प्रतापसिंह ने इन पांचों को अपने पास बुला लिया । कहा जाता है कि प्रतापसिंह अत्यन्त बुद्धिमान और वीर थे ।

महाराणा प्रतापसिंह द्वितीय की मृत्यु जनवरी 1754 ई. में हुई । इनकी चार रानियां थीं पहली रानी महाराणा के जीवन में ही परलोक सिधार गई थी । दूसरी रानी बनेकुंवर और तीसरा मायाकुंवर पति के साथ सती हुई । चौथी रानी वख्तावर कुंवर से राजसिंह का जन्म हुआ ।

महाराणा राजसिंह द्वितीय

प्रतापसिंह द्वितीय के बाद राजसिंह द्वितीय मेवाड़ के महाराणा बने । उनका राज्याभिषेक 10 जनवरी 1764 को हुआ । उनका जन्म 17 मई 1754 ई. को हुआ तथा सिंहासन पर बैठते समय उनकी आयु मात्र दस वर्ष थी । उस समय मराठों का पूरा उत्तरी भारत में जोर था अल्पवयस्क महाराणा के कारण राज्य में बड़ी अव्यवस्था फैल गई । राज्य में मराठों का दबदबा हो गया । प्रतापसिंह के शासनकाल में राजा नाथसिंह को उदयपुर छोड़ना पड़ा था उनकी मृत्यु के बाद वह भी उदयपुर आ गया । इन्हीं दिनों सिंधिया ने मारवाड़ पर चढ़ाई कर दी । रावत जैतसिंह को उदयपुर से सुलह के लिए सिंधिया के पास भेजा गया । उसी समय एक खोखर राजपूत ने सिंधिया को धोखे से मार डाला । इससे मराठे यह समझ बैठे कि यह कार्य उदयपुर वालों का है । अतः मराठों ने जैतसिंह पर चढ़ाई कर दी । जैतसिंह आदि अनेक वीर मार डाले गये । इससे उदयपुर वालों को भारी दुःख हुआ । इसी समय शाहपुरा के शासक ने उदयपुर की अधीनता स्वीकार कर ली । महाराणा राजसिंह द्वितीय की मृत्यु 3 अप्रैल 1761 को हुई ।

महाराणा अरिसिंह तृतीय

बहुत कम अवस्था में राजसिंह की मृत्यु हो जाने से राज्य में सन्नाटा छा गया । उनका कोई उत्तराधिकारी शेष नहीं रह गया था । अतः महाराणा जगतसिंह द्वितीय के छोटे पुत्र अरिसिंह तृतीय को मेवाड़ के सिंहासन पर बैठाया गया । यह राज्याभिषेक 3 अप्रैल 1761 को हुआ । अरिसिंह तृतीय उद्दण्ड स्वभाव का राजा था । एक बार वह भगवान एकलिंग के दर्शनों को जा रहे थे, तो सामने से आती सामन्तों की सेना की टुकड़ियों को रास्ता छोड़ने का आदेश दिया, किन्तु रास्ता

इतना तंग था कि ऐसा करना सम्भव नहीं था । अतः अरिसिंह की आज्ञा से सामन्तों पर डण्डे बरसाये गये । उसने प्रशासनिक पदों में भी फेर बदल किया । इससे और भी अव्यवस्था फैलने लगी । जनवरी 1769 में मराठों ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी । तीन दिन के घमासान युद्ध के बाद 16 जनवरी को मराठे भाग गये । कहा जाता है कि यह मेवाड़ की सेना का अन्तिम युद्ध था । बाद में महाराणा और मराठों के सम्बन्धों में सुधार आ गया था । 9 मार्च 1773 को अरिसिंह तृतीय का देहान्त हो गया । उनकी मृत्यु बूंदी के राजा अजीतसिंह के विश्वासघात से हुई ।

महाराणा हमीरसिंह द्वितीय

अरिसिंह तृतीय के बाद 11 मार्च 1773 को उनके ज्येष्ठ पुत्र हमीरसिंह द्वितीय मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे । हमीरसिंह का जन्म 13 जून 1761 को हुआ था अभी वह बालक ही थे । अतः महाराज बाघसिंह और अर्जुनसिंह नाम के दो सरदार पूर्ण स्वामिभक्ति के साथ शासन की देख-भाल करने लगे । हमीरसिंह के सिंहासन पर बैठते समय मेवाड़ का राजकोष खाली हो चुका था । मेवाड़ की मराठा सेना ने अपना वेतन मांगा, उन्हें अनेक प्रकार से समझाया गया किन्तु माधवराव सिंधिया का दामाद वैरजी ताकपरि चित्तौड़ की तलहटी के नगर को लूटने लगा । इस अपमान को देख मेवाड़ के वीर उसकी सेना पर टूट पड़े । फलतः मराठे भाग खड़े हुए । दिसम्बर 1777 ई में महाराणा हमीरसिंह एक बार शिकार के लिए गये, तो उनकी बन्दूक हाथ में ही फट गयी । विष फैल जाने से 6 जनवरी 1778 को उनका देहान्त हो गया ।

महाराणा भीमसिंह द्वितीय

इतनी कम अवस्था में हमीरसिंह की मृत्यु हो जाने से सारा मेवाड़ शोक में डूब गया । अतः 7 जनवरी 1778 को हमीरसिंह के दस वर्षीय छोटे भाई भीमसिंह को मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठाया गया । उनका जन्म 10 मार्च 1768 को हुआ था । भीमसिंह के महाराणा बनने पर मराठों ने मेवाड़ में और अधिक तबाही मचा दी । राज्य के अनेक जिले भी हाथ से निकल गये, सामन्त और जागीरदार मनमानी करने लगे और जगह-जगह विद्रोह होने लगे ।

जनवरी 1788 में मराठों की सेना मन्दसौर से मेवाड़ पर, चढ़ाई करने के लिए चल पड़ी । कई राजपूत वीरों ने मिलकर मराठों का सामना किया, जिसमें अनेक मारे गये, कुछ घायल हुए तथा अन्य बन्दी बना लिए गये । कुल मिलाकर भीमसिंह का शासन अशान्तिमय रहा उनके जीवनकाल में ही उनके ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह की मृत्यु हो गई थी । अन्त में 30 मार्च 1828 को भीमसिंह भी इस संसार से चल बसे ।

महाराणा जवानसिंह

महाराणा भीमसिंह के स्वर्गवास के बाद 31 मार्च 1828 ई. को उनके पुत्र जवानसिंह मेवाड़ के महाराणा बने । वह बड़े पितृभक्त, उदार तथा प्रजा से स्नेह करने वाले थे । उनके कर्मचारी आय-

व्यय का सही विवरण नहीं देते थे । महाराणा उनकी बातों पर विश्वास कर लेते थे । नाथद्वारा वालों का खुद-मुख्तार बनने के लिए एजेण्ट गवर्नर-जनरल राजपूताना से पत्र-व्यवहार आदि. अजमेर में गवर्नर जनरल से भेंट, शाहपुरा से अंग्रेजों को जब्ती उठाना, कोटा तथा जयपुर के राजाओं से मुलाकात, बम्बई प्रान्त के गवर्नर का उदयपुर आगमन, आदि महाराणा जवानसिंह के शासनकाल की मुख्य घटनायें हैं । 24 अगस्त 1838 की रात्रि जवानसिंह अपने महल में लेटे थे तो उनके सिर में असह्य वेदना होने लगी । अनेक उपचार कराने के बाद भी 30 अगस्त को उनका स्वर्गवास हो गया ।

महाराणा सरदारसिंह

महाराणा जवानसिंह का कोई पुत्र नहीं था । अतः मेवाड़ के सामन्तों ने परस्पर विचार-विमर्श कर 7 सितम्बर 1838 को सरदारसिंह को मेवाड़ का महाराणा बनाया । उनका जन्म 29 अगस्त 1798 को हुआ था । सरदारसिंह का राज्याभिषेक होते ही मेवाड़ में आंतरिक कलह की नींव पड़ गई । कुछ लोग सरदारसिंह को महाराणा नहीं बनाना चाहते थे, वे विरोध करने लगे ।

गोडवाड़ को मेवाड़ में मिलाने का प्रयत्न, शेरसिंह महता का बन्दी बनाया जाना और रामसिंह ? को प्रधान बनाना, कुंवर स्वरूपसिंह की गोदनशीनी आदि महाराणा सरदारसिंह के राज्यकाल की मुख्य घटनाएं हैं ।

स्वरूपसिंह की गोदनशीनी के बाद सरदारसिंह की बीमारी (शरीर में जलन) बढ़ने लगी । वह वृन्दावन की यात्रा पर चल पड़े । लौटने पर 13 जुलाई 1842 को उनका देहान्त हो गया ।

महाराणा स्वरूपसिंह

स्वरूपसिंह का जन्म 8 जनवरी 1815 को हुआ था । महाराणा सरदारसिंह की मृत्यु के बाद 15 जुलाई 1842 को उनका अभिषेक हुआ । सिंहासन पर बैठते ही उन्हें अत्यन्त कुशलता से कार्य करना पड़ा क्योंकि कुछ चाटुकार और स्वार्थी लोग उन्हें अपने पक्ष में करना चाहते थे ।

कोटा के रामसिंह का उदयपुर आना, सलूमबर कुंवर केसरीसिंह पर महाराणा की नाराजगी, मेहता शेरसिंह को प्रधान से मिलना, महाराणा का एक लिंग में मदिरा परित्याग, मन्दिरों और परगनों के प्रबन्ध के लिए महाराणा का मेवाड़ का दौरा, हेनरी लारेन्स का उदयपुर आगमन, देवली में छावनी और रियासती थानों का बनाया जाना, विद्रोही भीलों को दण्ड देना आदि इनके शासनकाल की प्रमुख घटनाएं हैं । अन्त में नासूर की भयंकर पीड़ा को सहते हुए 16 नवम्बर 1861 को महाराणा रचरूपसिंह का स्वर्गवास हुआ ।

महाराणा शम्भूसिंह

स्वरूपसिंह की मृत्यु के बाद 17 नवम्बर 1862 को मेवाड़ के राजसिंहासन पर शम्भूसिंह का अभिषेक हुआ । इस अवसर पर राजपूताना का एजेण्ट गवर्नर-जनरल जार्ज लारेन्स उदयपुर

आया । उसने महारानी विक्टोरिया की ओर से शम्भूसिंह को खिलअत प्रदान की ।

शम्भूसिंह के शासनकाल में राज्य प्रबन्ध के लिए पांच सरदारों की एक परिषद गठित की गयी । पूर्व एजेण्ट गवर्नर-जनरल के स्थान पर ईडन का इस पद पर नियुक्त होना, महाराणा का सलूम्बर आगमन, सन् 1862 का अकाल, महाराणा का अजमेर पधारना, उनकी लार्ड मेयो से मुलाकात, कोटा के महाराव शत्रुशाल का उदयपुर आना, महाराणा को जी. सी. एस. आई. का पदक मिलना, कर्नल हैचिनसन का उदयपुर आना आदि शम्भूसिंह के शासनकाल की प्रमुख घटनाएं और कार्य हैं ।

सन् 1874 की ग्रीष्म ऋतु में महाराणा शम्भूसिंह सपरिवार गोवर्धनविलास में थे । वहीं 16 जुलाई को उनके पेट में दर्द आरम्भ हुआ । तब सभी स्त्रियां उदयपुर भेज दी गयी और महाराणा गोवर्धन-विलास ही रहे । उनके रोग का उपचार प्रारम्भ हो गया । चिकित्सक उनके रोग का निदान नहीं कर पा रहे थे । हर सम्भव प्रयत्न के बाद भी चिकित्सकों को कोई सफलता नहीं मिली । अंततः 7 अक्टूबर 1874 को उनका देहान्त हो गया ।

महाराणा सज्जनसिंह

महाराणा शम्भूसिंह निःसन्तान स्वर्ग सिंधारे थे । अतः बेदला के राव बखसिंह ने शक्तिसिंह के पुत्र सज्जनसिंह को मेवाड़ का महाराणा बनाने का प्रस्ताव रखा । उसके इस प्रस्ताव को प्रायः सभी ने स्वीकार कर लिया । राजमहल के रनिवास से भी इसके लिए स्वीकृति मिल गई । अतः 8 अक्टूबर 1874 को मेवाड़ के राजसिंहासन पर सज्जनसिंह का अभिषेक कर दिया गया । उनका जन्म 8 जुलाई 1859 को हुआ था ।

जानी बिहारीलाला का महाराणा का संरक्षक नियुक्त होना, चार्ल्स हर्बट का उदयपुर आना, प्रिंस ऑफ वेल्स से भेंट के लिए महाराणा का बम्बई जाना, गवर्नर जनरल नार्थबक का उदयपुर आना, नाथद्वारे पर सैनिक कार्यवाही, नाथद्वारे का नवीन प्रबन्ध, गोस्वामी गिरिधर गोपाल को पदच्युत कर वृन्दावन भेजना, महाराणा की लार्ड लिटन से मुलाकात, पर्वतीय क्षेत्रों का नया प्रबन्ध, महाराणा का कुम्भलगढ़ आदि का दौरा पुलिस का नया प्रबन्ध, मेवाड़ का दौरा, जयपुर, जोधपुर आदि जाना, कृषक विद्रोह, भीलों का विद्रोह, लार्ड रिपन का चित्तौड़ आना और महाराणा को जी. सी.एस. आई. का पदक देना आदि महाराणा सज्जनसिंह के शासनकाल की मुख्य घटनाएं हैं ।

10 दिसम्बर 1884 को रात्रि में सज्जनसिंह को मूर्च्छा आई और इसी मूर्च्छा के क्रम में 23 दिसम्बर 1884 को उनका देहान्त हो गया ।

परिशिष्ट-I

तिथिक्रम

1. गुहादित्य द्वारा मेवाड़ राजवंश की स्थापना छठी शताब्दी ई.	
2. वप्पा रावल का शासन काल	734-53
3. खुमाण द्वितीय का शासन काल	812-36 ई.
4. हमीर का शासनकाल	1326-64
5. लाखा का राज्यारोहण	1382 ई.
6. मोकल का राज्यारोहण	1428 ई.
7. महाराणा कुम्भा का सिंहासनारोहण	1433 ई.
8. रायमल का मेवाड़ पर अधिकार	1473 ई.
9. राणा सांगा का अभिषेक	1508 ई.
10. रत्नसिंह का राज्यारोहण	1528 ई.
11. विक्रमाजीत का राज्यारोहण	1531 ई.
12. वनवीर का राजा बनना	1536 ई.
13. उदयसिंह का अभिषेक	1540 ई.
14. महाराणा प्रताप का जन्म	
वीरविनोद के अनुसार	31 मई, 1539 ई.
नैनसी के अनुसार	4 मई, 1540 ई.
कर्जन टॉड के अनुसार	9 मई, 1549 ई.
15. प्रताप का राज्यअभिषेक	28 फरवरी, 1572 ई.
16. जलाल खां कोरची द्वारा सन्धि प्रस्ताव	सितम्बर, 1572 ई.
17. मानसिंह द्वारा सन्धि प्रस्ताव	1573 ई.
18. भगवानदास द्वारा सन्धि प्रस्ताव	सितम्बर-अक्टूबर 1573 ई.
19. टोडरमल द्वारा सन्धि प्रस्ताव	दिसम्बर, 1573 ई.
20. अकबर का अजमेर पहुंचना	मार्च, 1576 ई.
21. मानसिंह का मेवाड़ प्रस्थान	3 अप्रैल, 1576 ई.
22. हल्दीघाटी युद्ध	21 जून, 1576 ई.
23. गोगूदा पर मुगल अधिकार	23 जून, 1576 ई.
24. महाराणा का गोगूदा वापस लेना	जुलाई, 1576 ई.
25. अकबर का मेवाड़ पहुंचना	13 अक्टूबर, 1576 ई.
26. उदयपुर-गोगूदा पर पुनः प्रताप का अधिकार	मई-जून, 1577 ई.
27. शाहबाज खां मेवाड़ अभियान पर	अक्टूबर, 1577 ई.
28. कुभलगढ़ पर मुगल अधिकार	13 अप्रैल, 1578 ई.
29. उदयपुर पर पुनः मुगल अधिकार	14 अप्रैल, 1578 ई.
30. शाहबाज खां का अद्वितीय मेवाड़ अभियान	15 दिसम्बर, 1578 ई.
31. चन्द्रसेन का मुगलों के विरुद्ध विद्रोह	दिसम्बर, 1578 ई.

- | | |
|---------------------------------------|--------------------|
| 32. शाहबाज खां का तृतीय मेवाड़ अभियान | 9 नवम्बर, 1579 ई. |
| 33. खानखाना मेवाड़ अभियान पर | जून, 1580 ई. |
| 34. जगन्नाथ कछवाहा मेवाड़ अभियान पर | 6 दिसम्बर, 1584 ई. |
| 35. मेवाड़ की पुनः स्वायत्ता | 1585 ई. |
| 36. महाराणा प्रताप का देहावसान | 19 जनवरी, 1597 ई. |

परिशिष्ट-II

श्रीमद्भागवत में मेवाड़ □ का राजवंश

भारत के अनेकों अन्य राजवंशों की तरह मेवाड़ के राजवंश का सम्बन्ध भी प्राचीन इक्ष्वाकु वंश से माना जाता है । विभिन्न पुराणों में इनकी वंशवलियों में पर्याप्त विभिन्नता है । इन वंशालियों को पूर्णतया प्रामाणिक नहीं माना जाता । आधुनिक विद्वानों का तो यह भी मत है कि कालान्तर में इन भारतीय राजवंशों ने अपने वंश का सम्बन्ध प्राचीन सूर्य एवं चन्द्रवंश से सिद्ध करने के लिए इन पुराणों की वंशावलियों को मनमाने ढंग से बनाया है । इनकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता सिद्ध करना हमारा उद्देश्य नहीं है । हम पाठको के ज्ञान मात्र के लिए श्रीमद्भागवत के आधार पर सिसौदिया वंश की प्राचीन वंशावली को उद्धृत कर रहे हैं, जो निम्न प्रकार से है-

1. आदि नारायण
2. ब्रह्मा
3. मरीचि
4. कश्यप
5. विवस्वान (सूर्य)
6. वैवस्वत मनु
7. इक्ष्वाकु
8. विकुक्षि
9. पुरज्जय (ककुस्थ)
10. अनेना (वेन)
11. पृथु
12. विश्वरंघ्रि
13. चन्द्र
14. युवनाश्व (प्रथम)
15. शाश्वत
16. वृहदश्व
17. कुवल्याश्व
18. दृढाश्व
19. हर्यश्व (प्रथम)
20. निकुम्भ
21. बर्हणाश्व
22. कृशाश्व
23. सेनजित

24. युवनाश्व (द्वितीय)
25. मान्धाता
26. पुरूकुत्स
27. ऋदस्यु
28. अनरण्य
29. हर्यश्व (द्वितीय)
30. अरूण
31. त्रिबन्धन
32. सत्यव्रत (त्रिशंकु)
33. हरिश्चन्द्र
34. रोहित
35. हरित
36. चम्प
37. सुदेव
38. विजय
39. भरूक
40. वृक
41. बाहुक
42. सगर
43. असमंजस
44. अंशुमान
45. दिलीप
46. भगीरथ
47. श्रुत
48. नाभ
49. सिन्धुद्वीप
50. अयुतायु
51. ऋतुपर्ण
52. सर्वकाम
53. सुदास
54. मित्रसिंह (कल्माषपाद)
55. अश्मक
56. मूलक (नारीकवच)
57. दशरथ (प्रथम)
58. ऐडविड

59. विश्वसिंह
60. खट्वांग
61. दीर्घबाहु (दिलीप)
62. रघु
63. अज
64. दशरथ (द्वितीय)
65. रामचन्द्र
66. कुश
67. अतिथि
68. निषध
69. नभ
70. पुण्डरीक
71. क्षेसधन्वा
72. देवानीक
73. अनीदृ
74. परियात्र
75. बल
76. स्थल
77. वज्रनाभ
78. खगण
79. विकृति
80. हिरण्यनाभ
81. पुष्य
82. ध्रुव सन्धि
83. सुदर्शन
84. अग्निवर्ण
85. शीघ्र
86. मरू
87. प्रसुश्रुत
88. सन्धि
89. अमर्षण
90. सहस्वान
91. विश्वसह
92. प्रसेनजित (प्रथम)
93. तक्षक

94. वृहद्वल
95. वृहद्रण
96. उरूक्रिय
97. वत्सवृद्ध
98. प्रतिव्योम
99. भानु
100. दीवांक्
101. सहदेव
102. वृहदश्व
103. भानुमान
104. प्रतीकाश्व
105. सुप्रतीक
106. मरूदेव
107. सुतक्षत्र
108. पुष्कर
109. अन्तरिक्ष
110. सुतपा
111. अमित्रजित
112. बृहद्राज
113. वर्हि
114. कृतज्जय
115. रणज्जय
116. संज्जय
117. शाक्य
118. शुद्धोद
119. लांगल
120. प्रसेनजित (द्वितीय)
121. शूद्रक
122. रणक
123. सुरथ
124. सुमित्र



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with

By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

 **KAPWING**



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with

By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

 **KAPWING**

परिशिष्ट-III

जोतदानों में उदयपुर राजवंश की वंशावली

1. वीर्यनाम
2. महारथी
3. अतिरथी
4. अचलसेन
5. कनकसेन
6. महासेन
7. दिग्विजयसेन
8. आजासेन
9. अभंगसेन
10. महामदनसेन
11. सिद्धरथ
12. विजयभूप
13. पद्मादित्य
14. शिवादित्य
15. हरादित्य
16. सुयशादित्य
17. सोमादित्य
18. शिलादित्य
19. केशवादित्य
20. नागादित्य
21. भोगादित्य
22. देवादित्य
23. आशादित्य
24. भोजादित्य
25. ग्रहादित्य
